विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

1 | अगस्त—१९८२ | अंक—८

नयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और राजयोग—इनमें से एक या अधिक या सबके द्वारा परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

इन्द्रियों के अधीन रहने पर मनुष्य स्वाधीनता में विचरण नहीं कर सकता। राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं भौतिक सुख-सम्पन्नता के बीच पल कर भी आज का मनुष्य भीतर मे हाहाकार कर रहा है। इसका कारण यह है कि वह स्वाधीन नहीं है, अपने अन्तर्मन में बीमार है। अहंकार-शून्यता, मन पर स्वामित्व और निष्कामता-निरसंगता ही स्वाधीनता के उद्‌गम स्रोत हैं। सम्पादकीय सम्बोधन में उसी स्वाधीनता की ओर जाने की प्रयोजनीयता पर प्रकाश डाला गया है।

वर्तमान पतनोन्मुखी समाज के आत्मिक उत्थान एवं सम्यक् विकास का दायित्व राजनेताओं पर छोड़ कर आज के युग में भारत के संन्यासी अपने को सर्वथा मुक्त नहीं रख सकते। वे समाज के ही एक अंग है और अपनी मुक्ति की साधना के साथ ही उन्हें लोक-कल्याण के लिए अपनी ऊँचाई से थोड़ा नीचे उतर कर, समाज के विभिन्न धरातलों पर कार्य करना ही होगा। तभी वे सामाजिक ऋण से मुक्त हो सकते हैं। रामकृष्ण मिशन एवं मठ के अध्यक्ष, पूज्यपाद श्रीमत स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने अपने प्रेरक प्रवचन 'संन्यासी और आधुनिक समाज' में इस तथ्य को बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से उजागर किया है। यह प्रवचन संन्यासियों एवं गृहस्थों, दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। इस प्रवचन के रूपान्तरकार हैं—शनिकंठ बोधिसत्व।

श्रीमत स्वामी सोमेश्वरानन्द जी के लेख 'धारणा : कुछ यौगिक रीतियाँ" में नये साधकों के लिए धारणा की सिद्धि के लिए कुछ यौगिक रीतियों की सरल प्रस्तुति हुई है। इनमें से किसी एक या एकाधिक रीतियों के द्वारा साधक अपनी धारणा स्थिर कर सकता है। प्रस्तुत निबन्ध (मूल अंग्रेजी) के हिन्दी रूपान्तरकार हैं—देव आनन्द।

आज से ठीक एक सौ वर्ष पूर्व भगवान श्रीरामकृष्ण ने अपनी लीला के क्रम में ५ अगस्त '८२ को पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर से भेंट की थी। यह उनकी विद्यासागर पर अहेतुकी कृपा थी! उस ऐतिहासिक मिलन का सम्मोहक वर्णन श्री 'म' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' में किया था। उसीके हिन्दी अनुवाद का एक अंश, श्रीरामकृष्ण वचनामृत-रचना की शताब्दी के अवसर पर हमने प्रस्तुत किया है, जो सबके लिए समान रूप से उपयोगी है।

हिन्दी के कवि, समीक्षक और आचार्य डॉ० उमेश चन्द्र 'मधुकर' ने अपने लघु कथा-काव्य 'बहन निवेदिता' में भगिनी निवेदिता के, जो स्वामी विवेकानन्द जी की विख्यात शिष्या थी, महत्वपूर्ण जीवन-प्रसंगों को मनोरम काव्यात्मक कलेवर देकर प्रस्तुत किया है।

श्रीमत स्वामी गंभीरानन्द जी महाराज द्वारा संकलित एवं सम्पादित ग्रंथ 'द एपॉसल्स ऑव श्रीरामकृष्ण' के आधार पर श्रीरामकृष्ण के साक्षात् शिष्य स्वामी निरञ्जनानन्द का लघु जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है श्री देव आनन्द ने, जो स्वभावतः रोचक एवं प्रेरक है।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज द्वारा प्रणीत श्रीसारदा देवी की जीवन कथा हम क्रमबद्ध रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। इस अंक में षष्ठ और सप्तम अध्याय प्रस्तुत किये गये हैं।

इस अंक में

१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है ... १
२. समाचार एवं सूचना ... २
३. रामकृष्णाष्टकम् — स्वामी अभेदानन्द ... ३
४. स्वाधीनता की ओर — (सम्पादकीय सम्बोधन) ...
५. संन्यासी और आधुनिक समाज — श्रीमत स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ... ११
६. धारणा : कुछ यौगिक रीतियाँ — स्वामी सोमेश्वरानन्द ... १५
७. स्वामी निरञ्जनानन्द — देव आनन्द ... १८
८. श्रीरामकृष्ण तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर — श्री 'म' ... २३
९. बहन निवेदिता (काव्य) — डॉ० उमेश चन्द्र 'मधुकर' ... २६
१०. श्री सारदा देवी (जीवन कथा) — स्वामी वेदान्तानन्द ... ३०

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१ अगस्त, १९८२ अंक—८

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल विवेक शिखा॥

सम्पादक :

केदारनाथ लाभ

सम्पादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५० रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग राशि सम्पादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

शास्त्र का सार श्रीगुरु-मुख से जान लेना चाहिए। उसके बाद साधन-भजन। एक आदमी ने पत्र लिखा था। पत्र पढ़ा भी न गया था कि खो गया। तब सब मिलकर ढूँढ़ने लगे। जब पत्र मिला, पढ़कर देखा, लिखा था—'पाँच सेर संदेश और एक धोती भेज दो।' पढ़कर पत्र को फेंक दिया और पाँच सेर संदेश और एक धोती का प्रबन्ध करने लगा। इसी प्रकार शास्त्रों का सार जान लेने पर फिर पुस्तकें पढ़ने की क्या आवश्यकता? अब साधन-भजन।

(२)

जो संसारी व्यक्ति ईश्वर के पाद-पद्मों में भक्ति करके संसार का काम करता है, वह धन्य है, वह वीर है। जैसे किसी के सिर पर दो मन का बोझा रखा हो, और एक बारात जा रही हो। इधर तो सिर पर इतना बड़ा बोझा है, फिर भी वह खड़े होकर बारात को देखता है। इस प्रकार संसार में रहना बिना अधिक शक्ति के नहीं होता। जैसे पाँकाल मछली, रहती तो कीच के भीतर है, परन्तु देह में कीच छू नहीं जाती। 'जलपाखी' पानी में डुबकियाँ लगाया करती हैं, परन्तु एक ही बार परों को झाड़ने से फिर पानी नहीं रह जाता।

(३)

संन्यासी की निर्जला एकादशी है; यदि संन्यासी भोग रखता है, तभी भय है। कामिनी-कांचन भोग हैं। जैसे थूककर फिर उसी थूक को चाट लेना। रुपये-पैसे, मान-इज्जत, इन्द्रिय-सुख—ये सब भोग हैं। संन्यासी का स्त्री भक्त के साथ बैठना या वार्तालाप करना भी ठीक नहीं है—अपनी भी हानि और दूसरों की भी हानि। दूसरे लोगों को शिक्षा नहीं होती। संन्यासी का शरीर-धारण लोक-शिक्षा के लिए है।

समाचार एवं निवेदन

(१)

राँची : २८ जून : श्री जगन्नाथ देव के रथयात्रा-पर्व के अवसर पर स्थानीय श्री रामकृष्ण सेवा संघ के तत्वावधान में "समाज और शिक्षा" विषयक एक परियोजना आयोजित हुई, जिसका निदेशन किया कलकत्ते के प्रमुख शिक्षा शास्त्री एवं श्रीरामकृष्ण देव के अनुरागी भक्त प्रोफेसर डॉ० हरि प्रसाद ने । इस परियोजना में रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द जी महाराज के सुझावानुसार स्वामी विवेकानन्द, महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, महर्षि अरविन्द, भगिनी निवेदिता एवं बाल गंगाधर तिलक द्वारा दर्शित 'सामाजिक परिवर्तन एवं शैक्षणिक चिन्ताधारा' पर सारगर्भ विवेचन हुआ। अलबर्ट आइन्सटीन, डॉ० जगदीश चन्द्र बोस और राजा राम मोहन राय का भी, इस संदर्भ में, उल्लेख कर विषय-विवेचन को व्यापकता एवं परिपूर्णता प्रदान करने का महत्तम प्रयास किया गया ।

उपर्युक्त अवसर पर एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया जिसमें 'समाज शिक्षा' (रामकृष्ण मिशन की लोक शिक्षा परिषद् की पत्रिका), 'विवेक दीप', (रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी, जो अब 'विवेक शिखा' के नाम से प्रकाशित होती है), रामकृष्ण मिशन ब्लाइंड बॉयज एकेडमी, तथा रामकृष्ण मिशन इनफॉरमेशन, डेवलपमेन्ट एंड रिसर्च एजेन्सी के कुछ प्रकाशन आदि प्रदर्शित किये गये ताकि परियोजना में भाग लेने वालों में नव स्फूर्ति एवं चेतना का संचार तथा उक्त परियोजना के उद्देश्यों का प्रचार हो सके ।

इस परियोजना के आयोजन एवं संचालन में रामकृष्ण सेवा संघ के सचिव श्री के० कृष्णमूर्ति ने सक्रिय सहयोग देकर अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

(२)

श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम
रामकृष्ण वीथि, पटना—४
१० जुलाई, १९८२

सविनय निवेदन,

पटना रामकृष्ण मिशन आश्रम में श्री श्री कालीपूजा समारोह शनिवार दिनांक १६-१०-८२ को मनाया जायगा ।

इस अवसर पर आप अपने इष्ट मित्रों के साथ पधारने की कृपा करें ।

निवेदक
स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव

इस समारोह में साधनार्थ आपकी सहायता प्रार्थित है ।

रामकृष्णाष्टकम्

—स्वामी अभेदानन्द

विश्वस्य धाता पुरुषस्त्वमाद्योऽव्यक्ते न रूपेण ततं त्वयेदम् ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। १

त्वं पासि विश्वं सृजसि त्वमेव त्वमादिदेवो विनिहंसि सर्वम् ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। २

मायां समाश्रित्य करोषि लीलां भक्तान्समुद्धर्तुमनंतमूर्तिः ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। ३

विधृत्य रूपं नरवत्त्वया वै विज्ञापितो धर्म इहातिगुह्यः ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। ४

तपोऽथ ते त्यागमदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा नमस्यंति कथं न विज्ञाः ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। ५

श्रुत्वात्र ते नाम भवंति भक्ता दृष्ट्वा वयं त्वां न तु भक्तियुक्ताः ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। ६

सत्यं विभुं शांतमनादिरूपं प्रसादये त्वामजमंत शून्यम् ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। ७

जानामि तत्त्वं न हि देशिकेन्द्र किं ते स्वरूपं किमु भावजातम् ।
हे रामकृष्ण त्वयि भक्तिहीने कृपाकटाक्षं कुरु देव नित्यम् ।। ८

भावार्थ—हे, श्रीरामकृष्ण ! आप विश्व को धारण करनेवाले आदि पुरुष हैं तथा अव्यक्त रूप से आप ही इस सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं । हे, देव ! आप मुझ भक्तिहीन पर सदैव अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें ।। १ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! आप आदि देव हैं । आप ही इस विश्व का सृजन, संरक्षण एवं संहार करते हैं । हे, देव ! आप मुझ भक्तिहीन पर निरंतर अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें ।। २ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! आप माया का आश्रय लेकर लीला करते हैं; हे, अनंतमूर्त्ति ! आप अपने भक्तों का उद्धार करनेवाले हैं । हे, देव ! मुझ भक्तिविहीन पर आप सदा अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें ।। ३ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! आप मनुष्य का रूप धारणकर अत्यन्त गुह्य धर्म को लोक मंगल के लिए प्रकाशित करते हैं । हे, देव ! मुझ भक्तिहीन पर आप अनवरत अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें ।। ४ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! आपके अदृष्टपूर्व (जैसा पहले कभी नहीं देखा गया) तप एवं त्याग को देखकर ज्ञानीजन आपको नमन् करते हैं । हे, देव ! मुझ भक्तिहीन पर आप सतत अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें ।। ५ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! आपके नाम के श्रवण मात्र से लोग आपके भक्त हो जाते हैं, किन्तु आपको देखकर भी हमलोग आपकी भक्ति से युक्त नहीं हुए । हे, देव ! आपकी भक्ति से रहित मुझ पर आप सदा अपनी कृपा-दृष्टि बनाये रखें ।। ६ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! आप सत्य, विभु, शांत, अनादिरूप, जन्मरहित एवं अनंत हैं । आप प्रसन्न हों । हे, देव ! अपनी भक्ति से हीन मुझपर आप सदा अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें ।। ७ ।।

हे, श्रीरामकृष्ण ! हे, आध्यात्मिक गुरुओं में श्रेष्ठतम ! मैं आपके तत्त्व, स्वरूप एवं विभिन्न भावों को नहीं जानता हूँ । हे, देव ! अपने इस भक्तिहीन पर आप सर्वदा अपनी कृपादृष्टि बनाये रखें । ।। ८ ।।

सम्पादकीय सम्बोधन

स्वाधीनता की ओर

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

विश्व-मूर्धा पर निरंतर नृत्य निरत नटराज भगवान् शंकर और जगन्माता भवतारिणी काली की परम चैतन्य धारा से अपनी चेतना को अनवरत जोड़े रहनेवाले भगवान् श्रीरामकृष्ण ने १५ अगस्त १८८६ ई० की ठीक मध्य रात्रि के १ घंटे बाद अपना लीलासंवरण किया, महासमाधि ली, देह-बंधन को काटकर महामुक्ति के परम आलोक-लोक में स्वयं को समाहित कर दिया। यह घटना अकारण और आकस्मिक नहीं थी। परम पुरुष की हर लीला अर्थवान् होती है। पुरुषोत्तम रामकृष्ण के लीलासंवरण की तिथि में कौन-सा अर्थ निहित था, कौन जानता है? क्या वे अपनी मुक्ति तिथि से भारत की मुक्ति की ओर संकेत कर गये थे? क्या वे अपनी मुक्ति से सम्पूर्ण मानवात्मा की मुक्ति की ओर संकेत कर गये हैं? कौन कह सकता है? मगर इतना तो सच है कि उनकी देह-मुक्ति के ठीक ६०वें वर्ष भारत विदेशी सत्ता से मुक्त होकर स्वाधीन हो गया। महर्षि अरविन्द की जन्मतिथि भी १५ अगस्त सन् १८६२ ई०) ही थी।

देह-लीला से मुक्ति अर्थवान अवश्य है—विशेषकर श्रीरामकृष्ण जैसे महापुरुषों के संदर्भ में; किन्तु, उनकी देह लीला भी मुक्त आत्मा की ही लीला थी। लीला करते हुए भी वे मुक्त थे, स्वाधीन थे—तभी तो उनके कर्म को हम लीला कहते हैं। श्रीरामकृष्ण अपने जीवन में ही जीवन मुक्त थे, देह-धारण करते हुए भी विदेह थे, शरीर के बंधन में रहकर भी स्वाधीन थे। इसीलिए वे नित्यमुक्त, निजानन्द-विश्रान्त, निरंजन परमेश्वर थे; सच्चिदानन्द-सागर की एक परमोज्वल स्फीत तरंग थे।

भगवान् बुद्ध, ईसा मसीह, मुहम्मद साहब और श्रीरामकृष्ण आदि जिस स्वाधीनता को उपलब्ध हो चुके थे वही स्वाधीनता हम सब का आदर्श है, हम सब की माँग है, हम सब की अभीप्सा है।

जैसे किसी राष्ट्र की पराधीनता अभिशाप है, उसके उन्मुक्त विकास में बाधक है और उसके समग्रगत स्वरूप पर कलंक की कालिमा है उसी भाँति किसी व्यक्ति की पराधीनता भी उसके चैतन्य स्वरूप के उन्मेष में बाधक है। वस्तुतः किसी राष्ट्र की भौगोलिक या राजनैतिक स्वाधीनता से व्यक्ति की स्वाधीनता कम महत्वपूर्ण नहीं है। सच तो यह है कि कुछेक स्वाधीन व्यक्ति अपनी अनंत ऊर्जा की लहर से सारे विश्व को प्रभावित, आन्दोलित और स्पंदित कर उसमें नयी चेतना, नयी दृष्टि और नयी जीवन शैली भर देते हैं, जबकि अनेक स्वाधीन राष्ट्र अपने समस्त नागरिकों को वास्तविक स्वाधीनता कभी नहीं दे पाते।

इस जगत् में जो भी पदार्थ हैं सब कार्य-कारण की सीमा में बंधे हैं। फिर भी सब स्वाधीनता के लिए, कार्य-कारण की सीमा को लाँघकर असीम अनंत में लय हो जाने के लिए अनवरत संघर्षशील हैं। एक लघु बीज विशालकाय वृक्ष बन अपनी सीमा को तोड़कर अपना अनन्त विस्तार कर लेना चाहता है। एक-एक अणु पत्थर से छिटक कर स्वाधीन होने के लिए संघर्ष कर रहा है। सारे ग्रह-नक्षत्र मुक्त हो जाना चाहते हैं। स्वाधीनता ही हमारी अभीप्सा है, स्वाधीनता ही हमारा मूल स्वरूप है, स्वाधीनता ही हमारा आदर्श है।

एक प्रसिद्ध वैदिक प्रार्थना है—असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। ऋषि की

आकुल प्रार्थना है—'हे प्रभु, हमें असत् से सत् की ओर ले चलो। अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।' बड़ी अर्थवान है यह प्रार्थना। इन तीन वाक्यों को ऋषि यदि एक वाक्य में कहते तो उनकी प्रार्थना होती—'हे प्रभु, हमें पराधीनता से स्वाधीनता की ओर ले चलो।' दरअस्ल इन तीनों वाक्यों में प्रकारान्तर से स्वाधीनता की माँग ही की गयी है।

पराधीनता असत् है, स्वाधीनता सत् है।
पराधीनता अंधकार है, स्वाधीनता प्रकाश है।
पराधीनता मृत्यु है, स्वाधीनता अमृत है।

हमारी सारी यात्रा असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर अर्थात् पराधीनता से स्वाधीनता की ओर जाने के लिए है। लेकिन इस यात्रा की शुरुआत करने का संकल्प ही जल्दी हमारे भीतर नहीं उठता।

गुलामी का, पराधीनता का, अपना एक स्वाद होता है, बड़ा लुभावना और मोहक। किसी आदमी को एक हत्या के आरोप में आजीवन कारावास की सजा मिली। कारागार में वह सीलन से भरे एक छोटे-अँधेरे कमरे में रखा गया। पूरे तीस वर्ष उसने उसी कमरे में काटे। कारागृह में उसके अच्छे आचरण के कारण उसे तीस वर्षों के बाद छोड़ दिया गया। निकलते समय जेलर ने उससे कहा—'जाओ खुले संसार में स्वाधीनता की साँस लो।' लेकिन जेलर उस समय हैरान हो गया जब उसी दिन वह बंदी लौटकर जेल के दरवाजे पर आ गया और उसने कहा—'जेलर साहब, मुझे कृपा कर अपनी उम्र के शेष दिन उसी सेल में गुजारने दीजिए। यह खुली दुनिया बड़ी भयावह है। वहाँ तीखी और तेज रोशनी है। हवा तेजी से बहती है। फूलों से जान लेवा मादक गंध आती है। मुझसे यह सब नहीं सहा जायगा। मेरे तो प्राण ही निकल जायँगे। मुझे उसी अँधेरे कमरे में जाने दीजिए। आराम से जीवन के बचे दिन गुजर जायँगे।'

हम अँधेरे के आदी हो गये हैं। रोशनी हमसे सही नहीं जाती। हमें कारागार चाहिए, खुली दुनिया नहीं। हम पराधीनता के अभ्यासी हो गये हैं। हमें स्वाधीनता की दुनिया में प्रवेश करने से डर लगता है।

पत्नी, बच्चे, मकान, सुख-सुविधा के साधन, नाम-यश की लालसा, रुपये-पैसों का लोभ—हम इन सब की दीवारों से बने कारागार में रहना चाहते हैं। पराधीनता हमारी प्रवृत्ति हो गयी है। स्वाधीनता शब्द बन कर रह गयी है।

जहाँ मोह है, वहाँ पराधीनता है।
जहाँ आसक्ति है, वहाँ पराधीनता है।
जहां अहंकार हैं, वहाँ पराधीनता है।
जहाँ इन्द्रियों की वर्चस्वता है,
वहाँ पराधीनता है।

स्वाधीन होने के लिए हमें मुक्त होना होगा मोह से, आसक्ति से, अहंकार से और इन्द्रियोन्मुखता से।

एक बार केशव सेन ने श्रीरामकृष्ण से पूछा था—'महाराज, कोई कुछ पूँजी जोड़कर अगर ईश्वर की उपासना करे तो क्या वह कर सकता है या नहीं? और इससे क्या किसी तरह का पापस्पर्श हो सकता है?' श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया—'तीव्र वैराग्य होने पर संसार कुआँ और आत्मीय साँप की तरह जान पड़ते हैं। तब 'रुपये इकट्ठे करूँगा', 'विषय संचय करूँगा' यह हिसाब नहीं रह जाता। ईश्वर ही वस्तु है और सब अवस्तु। ईश्वर को छोड़कर विषय की चिन्ता!

"एक स्त्री के ऊपर कोई बड़ा शोक आ पड़ा। पहले उसने अपनी नथ नाक से उतार कर सावधानी से कपड़े में लपेट कर बाँध ली और फिर लगी रोने 'अरी मेरी मैया—मुझे यह क्या हुआ?'—और यह कहकर पछाड़ खाकर गिर पड़ी,—परन्तु वह भी सावधानी से कि कहीं बँधी हुई नथ टूट न जाय।"

यही है मोहासक्ति और यही है पराधीनता। हम 'स्व' के 'अधीन' नहीं होकर 'पर' के अधीन हैं।

हम अधीन हैं अपने मन के, अपनी इन्द्रियों के, अपने अहंकार के।

हम वह सुनने को विवश हैं, जो आवाज हमारे कानों से टकराती है।

हम वह देखने को अभिशप्त हैं, जो दृश्य हमारी आँखों से गुजरता है।

हम वह सूँघने को मजबूर हैं, जो दुर्गंध या सुगंध हमारी नासिकारंध्र में प्रवेश करती है।

हम उसका स्वाद लेने को विवश हैं, जो वस्तु हमारी जीभ पर आती है।

हम उस सुख-दुःख को भोगने को निरुपाय हैं जो किसी स्पर्श से जनमता है।

कितने दयनीय हैं हम ! कितने निरुपाय हैं हम ! कितने पराधीन हैं हम !

ऐसा क्यों है ? क्यों हम किसी ध्वनि को सुनने, दृश्य को देखने, गंध को सूँघने, रस का स्वाद लेने और स्पर्श का दंश भोगने को अभिशप्त हैं ? क्योंकि हम मन के अधीन हैं। मन हमारा स्वामी हो गया है, हम मन के स्वामी नहीं हैं। मन के स्वामित्व से हम पराधीन होते हैं; मन पर स्वामित्व से स्वाधीन। मन पर स्वामित्व उसका होता है जो 'स्व' में प्रतिष्ठित है, अपनी आत्मा में अधिष्ठित है, और 'न हि स्वात्मारामं विषय-मृगतृष्णा भ्रमयति।' जो अपनी आत्मा में रमण करते हैं वे विषयों की मृगतृष्णा में भ्रमण नहीं करते।

मनुष्य मूलतः सुख की तलाश में व्यस्त रहता है। हमारे सारे कार्यों की जड़ में सुख-प्राप्ति की आकांक्षा है। और हमारे सुखों का केन्द्र हमारी इन्द्रियाँ बनी रहती हैं। लेकिन इन्द्रिय जनित सुख, चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो, शाश्वत नहीं हो सकता, क्योंकि सभी इन्द्रियाँ नाशवान हैं। अतएव, इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख सदैव विनाश को साथ लेकर आते हैं और सच्चे आनन्द के बाधक होते हैं। सुख की कामना ही बंधन है, पराधीनता है। यह चाहे स्वर्ग-सुख की कामना ही क्यों न हो। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि जंजीर दो तरह की होती है – लोहे की और सोने की। लेकिन दोनों जंजीरें ही हैं जो हमें बाँधती हैं। स्वर्ग-सुख की कामना सोने की जंजीर है जो हमें किसी प्रकार स्वतंत्र नहीं होने देती। एक पराधीन व्यक्ति कभी सुखी नहीं होता। उसे सदैव अपने स्वामी का भय सताता रहता है। जब वह परम आनन्द के क्षणों में रहता है है तभी उसका स्वामी कुछ दूसरा कार्य करने को उसे बुला सकता है। अतः स्वाधीनता का राज है अनासक्त होना।

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी एक प्रेरक कविता 'संन्यासी का गीत' में बड़े सबल रूप से उद्बोधन करते हुए कहा है—

तोड़ो जंजीरें जिनसे जकड़े हैं पैर तुम्हारे
वे सोने की हैं तो क्या कसने में तुमको हारे ?
अनुराग-घृणा-संघर्षण, उत्तम वा अधम विवेचन
इस द्वन्द्व भाव को त्यागो, हैं त्याज्य उभय आलम्बन।

आदर गुलाम पाये या कोड़ों की मारें खाये,
वह सदा गुलाम रहेगा कालिख का तिलक लगाये;
स्वातंत्र्य किसे कहते हैं—वह जान नहीं है पाता
स्वाधीन सौख्य जीवन का—उसकी न समझ में आता।

त्यागो संन्यासी त्यागो तुम द्वन्द्व भाव को सत्वर
तोड़ो शृंखल को तोड़ो, गाओ यह गान निरन्तर—
ॐ तत् सत् ॐ

इसी कविता में आगे चलकर स्वामी जी ने पराधीनता के लक्षणों की ओर बड़ा मार्मिक संकेत किया है—

करते निवास जिस उर में मद काम लोभ औ मत्सर
उसमें न कभी हो सकता आलोकित सत्य प्रभाकर;
भार्यत्व कामिनी में जो देखा करता कामुक बन
वह पूर्ण नहीं हो सकता, उसका न छूटता बन्धन;
लोलुपता है जिस नर की स्वल्पातिस्वल्प भी धन में
वह मुक्त नहीं हो सकता रहता अपार बन्धन में
जंजीर क्रोध की जिसको रखती है सदा जकड़ कर
वह पार नहीं कर सकता दुस्तर माया का सागर।
इन सभी वासनाओं का अतएव त्याग तुम कर दो,
सानन्द वायुमंडल को बस एक गूँज से भर दो—
ॐ तत् सत् ॐ

(श्रीरामकृष्ण मठ, नागपुर से प्रकाशित 'कवितावली से

विषयासक्त प्राणी स्वाधीनता का रस-बोध कर ही नहीं सकते। अष्टावक्र ने जनक से कहा—यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो, हे तात, विषयासक्ति को विष के समान त्याग दो तथा क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान ग्रहण करो। यदि तुम देह-चेतना से अपने को पृथक् कर लो और आत्म-चेतना में विश्राम करो तो तुरन्त तुम सुखी, शान्त और बन्धन-मुक्त यानी स्वाधीन हो जाओगे।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्यज।
क्षमार्जवदयातोष सत्यं पीयूषवद्भज ॥२॥
यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥४॥

(अष्टावक्र संहिता)

जब तक हम जीवन के समस्त सुखों के प्रति तृष्णा का त्याग नहीं करते तब तक हम स्वाधीन नहीं हो सकते। जब तक हम क्षणभंगुर सान्त विषयों की ओर से अपनी आसक्ति का परित्याग नहीं करते तब तक हम परम मुक्ति या स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते। हमें अपनी सारी स्पृहाओं का त्याग करना होगा—जीवन का, जगत का, पृथ्वी का, स्वर्ग का, शरीर का, मन का एवं सीमा में बँधी सारी वस्तुओं का। जिस क्षण हम इन्द्रियगोचर जगत् से अपनी आसक्ति हटा लेंगे, उसी क्षण हम स्वाधीन हो जायेंगे।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं—'अनासक्त हम कैसे हो सकते हैं! यह तो असंभव है।' असंभव नहीं, यह कठिन अवश्य है। अनासक्त होने के दो उपाय हैं—निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग सिखाता है—'नेति' 'नेति' (यह नहीं, यह नहीं) और प्रवृत्ति मार्ग है 'इति' 'इति' (यही, यही)। प्रथम मार्ग है ज्ञान मार्गियों का। वे संसार के समस्त कर्मों का त्याग कर देते हैं। दूसरा मार्ग है कर्म योगियों का। वे कर्म का त्याग तो नहीं करते लेकिन कर्म-फल के बंधन में वे फँसते नहीं।

कर्म का फल हम चाहते ही क्यों हैं? क्योंकि हम में स्वार्थपरायणता है। स्वार्थ से प्रेरित हर कार्य या भाव हमें व्यक्ति या वस्तु के प्रति आसक्त कर देता है। यह मेरा है—यह भाव आसक्त करता है। यह मैं हूँ—यह भाव आसक्त करता है। जहाँ 'मेरा' और 'मैं' है, वहीं आसक्ति है। और जहाँ आसक्ति है, वहीं दासता है। जहाँ दासता है, वहीं क्लेश है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे—'कभी यह न कहो कि यह 'मेरा' है। जब कभी हम यह कहेंगे कि अमुक वस्तु 'मेरी' है, तो उसी क्षण क्लेश हमें आ घेरेगा। अपने मन में कभी न कहो कि यह 'मेरा बच्चा' है। बच्चे को लेकर प्यार करो, परन्तु यह न कहो कि यह 'मेरा' है। 'मेरा' कहने से ही क्लेश उत्पन्न होगा। 'मेरा घर', 'मेरा शरीर' आदि न कहो। कठिनाई तो यहीं पर है। शरीर न तो तुम्हारा है, न मेरा और न अन्य किसी का। ये शरीर तो प्रकृति के नियमों के अनुसार आते-जाते रहते हैं, परन्तु हम बिल्कुल मुक्त हैं—केवल साक्षी मात्र हैं।'[१]

अतः स्वाधीन होने के लिए अनासक्त होना होगा और अनासक्त होने के लिए—निःस्वार्थ होना होगा, 'मैं' और 'मेरा'पन से मुक्त होना होगा।

अनासक्त होने का एक और उपाय है—प्रबल इच्छा शक्ति का उपयोग। यदि हम में संकल्प की दृढ़ता हो, इच्छा शक्ति की प्रबलता हो तो हम कह सकते हैं कि संसार की कोई वस्तु हमें आकृष्ट नहीं कर सकती। सोने का पहाड़ हमें अपनी ओर नहीं खींच सकता। संसार की परम रम्य रमणी हमें अपनी ओर नहीं खींच सकती। विश्व का समस्त वैभव, समस्त आकर्षण मेरे लिए धूल है। ऐसा भाव जिस व्यक्ति में दृढ़ता धारण कर ले वह विश्व के मनोरम उद्यान में परम अनासक्त योगी बनकर स्वाधीनता पूर्वक विचरण कर सकता है। लेकिन ऐसी दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति विरले ही होते हैं।

तब हमारे लिए कोई और उपाय है क्या? हाँ, एक और उपाय है और वह सरल उपाय है। भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥[२]

१. विवेकानन्द साहित्य: तृतीय खण्ड : पृ० ७४

२. श्री मद्भगवद्गीता ९।२७

अर्थात् 'तुम जो कुछ पूजा करो, ध्यान करो, अथवा कर्म करो सब मुझे अर्पण कर दो।' हम जो कुछ करें, वह अपने लिए नहीं, अपने नाम-यश के लिए नहीं, अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि प्रभु के लिए। हमारी हर साँस प्रभु को अर्पित हो। हमारा हर कर्म प्रभु को अर्पित हो। हमारा हाथ प्रभु के लिए उठे। हमारे पैर प्रभु के लिए उठें। हमारी दृष्टि प्रभुके लिए उठे। हमारा रोम-रोम प्रभु का नैवेद्य हो।

जहाँ हमारे अपने लिए कुछ नहीं है,वहाँ हम स्वाधीन हैं।

जहाँ हमारी अपनी कोई चाह नहीं है,अपनी कोई इच्छा नहीं है, अपनी कोई कामना नहीं है, वहाँ हम स्वाधीन हैं।

जहाँ हमारी अपनी कोई माँग नहीं है, वहाँ हम स्वाधीन हैं।

और जो स्वाधीन है, स्वशासक है, वही सम्राट है। कवि ने कहा है—

चाह गयी, चिन्ता मिटी, मनवाँ बे परवाह।
जिसको कछू न चाहिए सोइ पति शाहंशाह॥

लेकिन आज हमारी क्या दशा है? हमारा हर कर्म हमारी पराधीनता का घोषणा-पत्र हो गया है। और तो और, हम प्रेम भी करते हैं तो पराधीनता के भाव में। हम जब किसी से प्रेम करते हैं तो उसके एक-एक इशारे पर हजार-हजार वार नाचने लगते हैं। हम मानो उसके दास हो जाते हैं। इतना ही नहीं, हम चाहते हैं कि हमारी प्रेमिका सदैव हमारे पास ही रहे। हमारे पास ही उठे-बैठे। अन्य पुरुष के साथ उसका उठना-बैठना हम बर्दाश्त ही नहीं कर सकते। यदि वह हमारे मनोनुकूल आचरण नहीं करे तो हम ईर्ष्या से ऐंठ जाते हैं। हम कष्ट का अनुभव करने लगते है। हमारी नींद लुट जाती है। चैन नष्ट हो जाता है। हम प्रेयसी का दास होकर उसे भी अपनी दासी बना लेना चाहते हैं। एक पराधीन दूसरे को पराधीन बनाने में सुख का अनुभव करता है। किन्तु, यह प्रेम नहीं है। जिससे कष्ट हो वह प्रेम नहीं है। लेकिन प्रेम में कष्ट का कारण क्या है? जहाँ प्रेम आसक्ति में अनूदित हो जाता है वहाँ प्रेम कष्टकर हो जाता है। कष्ट आसक्ति का फल है, प्रेम का नहीं। सच्चा प्रेम अनासक्ति में है, आसक्ति में नहीं। ईश्वर अनासक्त है, इसलिए वह परम प्रेमी है। कृष्ण अनासक्त हैं, इसलिए वह महाप्रेमी हैं।

हमारे हर कार्य के मूल में आसक्ति रहती है, इसलिए हम हर कार्य पराधीन की तरह करते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'९९ प्रतिशत लोग तो दासों की तरह कार्य करते हैं, और उसका फल होता है दुःख; ये सब कार्य स्वार्थपूर्ण होते हैं। मुक्त भाव से कर्म करो। प्रेम सहित कर्म करो। 'प्रेम' शब्द का यथार्थ अर्थ समझना बहुत कठिन है। बिना स्वाधीनता के प्रेम आ ही नहीं सकता। दास में सच्चा प्रेम होना सम्भव नहीं। यदि तुम एक गुलाम मोल ले लो और उसे जंजीरो से बाँधकर उससे अपने लिए काम कराओ, तो वह कष्ट उठाकर किसी प्रकार काम करेगा अवश्य, पर उसमें किसी प्रकार प्रेम नहीं रहेगा। इसी तरह जब हम संसार के लिए दासवत् कर्म करते हैं, तो उसके प्रति हमारा प्रेम नहीं रहता और इसलिए वह सच्चा कर्म नहीं हो सकता।'[3]

स्वाधीनता ही शान्ति की जननी है। जब हम सब कुछ प्रभु के चरणों में निवेदित कर देते हैं तब हम कर्म के सारे भारों से मुक्त हो जाते हैं और परम स्वाधीनता में या परम शान्ति में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अतएव, हमें अपने क्षुद्र 'अहं' की आहुति प्रभु के चरणो में देकर निश्चित मन से कहना चाहिए—'संसार में धन की खोज करते हुए हे प्रभु, मैंने केवल तुम्हीं को एकमात्र धन पाया, मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ। किसी प्रेमास्पद की खोज करते-करते, हे नाथ, केवल तुमको ही मैंने एकमात्र अपना प्रेमास्पद पाया, मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ। हे प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिए। कोई वस्तु चाहे अच्छी हो, चाहे बुरी, चाहे तटस्थ, मैं उसे तनिक भी नहीं चाहता, मैं सब कुछ तुम्हीं को

---

३. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खंड : पृष्ठ ३३

समर्पण करता हूँ।"[4] इस प्रकार हम अपने तुच्छ अहं का प्रभु के पाद-पद्मों में अर्पण कर स्वयं को स्वाधीन कर ले सकते हैं।

प्रभु के चरणों में आत्मार्पण करने के लिए अपने मन को बहिर्मुखता से हटाकर एकोन्मुखता की ओर मोड़ना होगा। मन के सम्बन्ध में वेद में एक बड़ा काव्यात्मक वर्णन है। यमराज नचिकेता से कहते हैं—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
> आत्मेन्द्रियं मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥[5]

यानी शरीर रथ है। आत्मा इसका स्वामी। बुद्धि सारथी है और मन लगाम। इन्द्रियाँ रथ के घोड़े हैं। विषय-वासनाएँ इन घोड़ों के विचरण के मार्ग हैं और शरीर, इन्द्रिय तथा मन से युक्त रहने वाली आत्मा ही भोक्ता है।

अब मन का लगाम यदि ठीक हो तो इन्द्रियों के घोड़ों को विषयों के मार्ग पर विचरने से रोका जा सकता है और स्वाधीनता पायी जा सकती है। यदि मन का लगाम ढीला हो तो शरीर के रथ का स्वामी इन्द्रियों के घोड़ों के इच्छानुसार विषयों के मार्ग पर विचरण करने को विवश हो जायगा। विवशता ही पराधीनता है, स्ववशता ही स्वाधीनता। मन का लगाम ढीला नहीं छोड़ना है। लगाम ढीला हुआ नहीं कि रथ के घोड़े सरपट दौड़ पड़ेंगे इधर-उधर। उन्हें ख्याल भी नहीं रहेगा कि किधर गढ़ा है, किधर सपाट समतल भूमि। इससे तो रथ के उलट जाने का ही खतरा बढ़ेगा।

और यही हाल आज हमारा हो गया है। हमारे रथ का स्वामी पराधीन है। सारथी के हाथों में लगाम की पकड़ मजबूत नहीं रह गयी है। बढ़ती हुई चोरियाँ, डकैतियाँ, लूट-पाट, पापाचार, दुराचार, कदाचार, सामूहिक बलात्कार और हत्याएँ—क्या हैं ये? लगाम के ढीले होने के परिणाम घोड़े स्वच्छन्द हो गये हैं। जब इन्द्रियों के घोड़े स्वाधीन हो जाते हैं, तब जीवात्मा रूपी स्वामी पराधीन हो जाता है। जो पराधीन है उसे अपने मार्ग की करणीयता—अकरणीयता, शिवता—अशिवता सुन्दरता-असुन्दरता में भेद करने की क्षमता ही नहीं रह जाती। नहीं, हमें अपने घोड़ों को स्वच्छन्द नहीं होने देना होगा। हमें उनका लगाम कसना होगा। उन्हें कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना होगा। तभी हम स्वाधीनता में अर्थात् परम शान्ति में अर्थात् परम आनन्द में अवस्थित हो सकेंगे।

राम रावण से लड़ने जा रहे हैं। रावण के पास अनेक रथ हैं। राम विरथ हैं—रथहीन। विभीषण को भय है—कैसे राम इस युद्ध में विजयी हो सकते हैं! वे अपनी आशंका राम से प्रकट करते हैं। राम विभीषण को समझाते हैं—

> सुनहु सखा कह कृपा निधाना।
> जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
> सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
> सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
> बल विवेक दम परहित घोरे।
> क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥
> ईस भजनु सारथी सुजाना।
> बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
> ... ...
> सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
> जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
> महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
> जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥[6]

अब, राम जिस रथ की बात करते हैं उसके शौर्य और धैर्य दो चक्के हैं। सत्य-शील की ध्वजा है। बल, विवेक, दम (इन्द्रियों की स्ववशता) और परोपकार के घोड़े हैं। क्षमा, दया और समता का लगाम है। वैराग्य की ढाल है। संतोष का खड्ग है। इस रथ से रावण के जीतने की बात राम नहीं करते। वे तो संसार रूपी अजेय

---

४. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० ७६

५. कठोपनिषद् ३।।३-४।।

६. रामचरित मानस : उत्तरकाण्ड : ८० (क)

शत्रु को जीतने के लिए इस रथ की बात करते हैं। यह रथ हमारे भीतर है। यह राम-रावण का युद्ध हमारे भीतर है। रावण पराधीन है। वह सोने की लंका में रहता है। सीता का हरण करता है। अर्थात् वह कंचन और कामिनी की आसक्ति से ग्रस्त है। स्वभावतः ही वह पराधीन है। स्वभावतः ही वह मोहान्ध है, अहंकार से उन्मत्त है और स्वभावतः ही वह विवेक—रहित है। स्वभावतः ही वह बेचैन है, अशान्त है और अशान्त को सुख कहाँ ? उसकी पराजय निश्चित है।

राम स्वाधीन हैं। उन्होंने साम्राज्य का त्याग किया है। उन्होंने सुखों का त्याग किया है। भरे यौवन में भोग और विलास पर लात मारी है। राम वीतरागी हैं, अनासक्त हैं। स्वभावतः वे स्वाधीन हैं, शान्त हैं, सुखी हैं। उन्होंने अपने को पहले ही जीत लिया है। उनके लिए रावण को जीतना कोई समस्या ही नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—जिसने अपने को जीत लिया वह समग्र संसार को जीत सकता है।

राम और रावण हमारे भीतर हैं। स्वाधीनता और पराधीनता हमारे भीतर है। आसक्ति और अनासक्ति हमारे भीतर है। हमारा कर्त्तव्य है, हम अपने भीतर सोये राम को जगायें, हम निर्ममता, निःस्वार्थता, सम्पूर्ण त्याग और कठोर वैराग्य के उच्चासन पर प्रतिष्ठित हों। हम जल में कमल की भाँति अनासक्त-अलिप्त हों और संसार के पथ-पर एक स्वाधीन मनुष्य बनकर चलें।

राम निष्काम हैं। राम और काम एक साथ नहीं रह सकते।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहु कि मिलि सकैं, रवि रजनी इक ठाम॥

हमें राम के लिए काम का त्याग करना होगा, स्वाधीनता के लिए आसक्ति का, कामना का, देह-भाव का त्याग करना होगा। यदि हम ऐसा करने में पूर्ण समर्थ हो जायँ, तो समस्त विश्व हमारे वश में हो जाय, क्योंकि हमारी इन्द्रियों को लेकर ही यह जगत् है। स्वाधीनता ही उच्च जीवन की कसौटी है। आध्यात्मिक जीवन उस समय प्रारम्भ होता है, जिस समय तुम अपने को इन्द्रियों के बंधन से मुक्त कर लेते हो। जो इन्द्रियों के अधीन हैं वही संसारी हैं, वही दास हैं।'[7]

हमारी स्वाधीनता ही विश्व में प्रेम का प्रकाश फैला सकती है।

हमारी स्वाधीनता ही विश्व को शाश्वत शान्ति प्रदान कर सकती है।

हमारी स्वाधीनता ही विश्व-मंगल का वरदान बन सकती है।

हमारी स्वाधीनता ही सृष्टि में सच्ची समता, बंधुता, मुदिता और स्वतंत्रता की भूमिका हो सकती है।।

हमारी स्वाधीनता ही सम्पूर्ण जगत् में आनन्द—अखण्ड और घने आनन्द के हरसिंगार बिखर सकती है।

मित्रो, हमारी समस्त साधनाएँ इसी स्वाधीनता के लिए होनी चाहिए। भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द हमें—हम सबको —सम्पूर्ण मानव प्राणी को उसी स्वाधीनता की ओर ले चलें—यही उनसे हमारी आंतरिक प्रार्थना है।

---

७. विवेकानन्द साहित्य : चतुर्थ खण्ड : पृष्ठ ८३

संन्यासी और आधुनिक समाज

—श्रीमत स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज

[४ दिसम्बर १९८१ को रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम कनखल (हरद्वार) में विभिन्न हिन्दू संन्यास पद्धतियों के संन्यासियों एवं मण्डलेश्वरों द्वारा सम्मिलित सभा में पूज्यपाद श्रीमत स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन एवं मठ द्वारा दिया गया प्रवचन]

आज के भाषण का विषय, "संन्यासी और आधुनिक समाज," थोड़ा कठिन-सा है, क्योंकि इसमें मेरी ओर से उपदेश प्रदान करने जैसा जान पड़ता है। लेकिन आरंभ में ही मैं यह स्पष्ट कर दूँ, कि मैं कोई उपदेश देने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ, बल्कि मात्र उन विचारों को अभिव्यक्त करना चाहता हूँ, जो उक्त विषय पर सोचने से मेरे मन में आये हैं। प्रस्तुत अभिभाषण में मैं उक्त संदर्भ के अपने अनुभव को ही, बोल कर, विचार-रूप प्रदान करता हूँ।

स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि प्रत्येक राष्ट्र का एक महत् आदर्श होता है, जिसे वह अपनी गहन अंतरिकता से सँभालकर रखता है। प्रत्येक राष्ट्र इस निजादर्श को उपलब्ध होने के लिए प्रगाढ़ अभीप्सा से आशान्वित रहता है। जब तक राष्ट्र का यह निजादर्श उद्दीप्त रहता है, तबतक उसका विकास होता रहता है। किन्तु जब वह आदर्श धुँधला या म्रियमाण हो जाता है, तब राष्ट्र की भी अवनति होने लगती है। अन्ततः, राष्ट्रीय आदर्श के खोने या चूक जाने से, राष्ट्र भी विलीन हो जाता है। अन्य राष्ट्रों की भाँति, भारत का भी अपना आदर्श है। भारत ने धर्म एवं मोक्ष को अपने महान् आदर्श रूप में वरण किया और विगत चार हजार वर्षों-से-अधिक से ही इनके प्रति प्रतिबद्ध रहा। भारत का यह आदर्श कभी ज्वलंत रहा और कभी-कभी क्षीण या म्लान भी होता रहा, किन्तु राष्ट्र ने इसका परित्याग कभी नहीं किया। मानवीय इतिहास के प्रत्येक युग में भारत में ऐसे अनेक महापुरुष हुए, जिन्होंने उक्त आदर्श को पूर्णतः सुरक्षित रखने के लिए, ईश्वर एवं मुक्ति को उपलब्ध होने की गहन साधना की। यह आदर्श राष्ट्र के सम्मुख इस तरह प्रतिष्ठापित हुआ कि सभी तरह के लोग धीरे-धीरे इसे उपलब्ध होने की दिशा में अग्रसर हो सकें। भारत के तत्त्वदर्शी महापुरुष यह जानते थे कि अपनी वर्तमान परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति उक्त उच्चादर्श को उपलब्ध होने में सक्षम नहीं है, किन्तु उन्हें साधननिष्ठ जीवन की शिक्षा अभी से दी जानी चाहिए। प्रशिक्षण की इस अवधि में उन्हें अपने-अपने संस्कारों के अनुसार जीवन जीने की कुछ स्वतंत्रता दी जानी चाहिये।

इस तरह समस्त सामाजिक जीवन चार क्रमबद्ध आश्रमों में व्यवस्थित किया गया—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और अन्ततः, संन्यास आश्रम। इनमें से प्रत्येक आश्रम में जीवन-यापन के लिए कुछ कर्त्तव्यों का विधान भी प्रदान किया गया।

ब्रह्मचर्य आश्रम में जीवन का सदुपयोग करने के लिए विद्यार्थियों को कुछ विशेष व्यवस्था दी गयी, जिससे वे संसार या सांसारिकता से अलग रह सकें। वे अपने महान् चरित्र-गुणों से संपन्न उन गुरुओं के सान्निध्य में रहते थे, जो संसार से उदासीन थे। शिक्षा संपन्न होने पर वे अपने समाज में लौटकर, उसके कल्याण के लिए कार्य करते थे। गृहस्थों को अर्थोपार्जन करने का आदेश था। कुछ हद तक संसार का सुखोपभोग भी उनके लिए विहित था। साथ ही, समाज को उन्नतिशील दिशा प्रदान करना उनका दायित्व होता

था। उनकी जीवन-विधा ऐसी होती थी कि प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष रूप महापरिणति की ओर अग्रसर होने की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध हो सके। धर्म एवं मोक्ष रूप महत् आदर्श को सतत् जीवंत रखने के लिए गृहस्थों के जीवन में कर्तव्याचरण का विधान दिया गया था। वस्तुतः, गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों का प्रधान आधार था, क्योंकि वे सभी इसी पर निर्भर रहते थे। गृहस्थ आश्रम समस्त सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का आधार-स्तंभ होता था। जीवन-व्यवस्था के पूर्वोक्त क्रम में अन्ततः आने वाले संन्यास आश्रम में समस्त अधिकारों का त्याग हो जाता था और मनुष्य अपने अभीप्सित उच्चादर्श को उपलब्ध होने के लिए समग्र अस्तित्व से समर्पित होते थे। वे राष्ट्रीय ऊर्ध्व-क्षितिज पर वैराग्य की मशाल जलाए रखते थे, तथा अपने जीवन एवं शिक्षण से मोक्ष रूप महत् आदर्श को जन चेतना के समक्ष सदैव जीवंत रखते थे। इस प्रकार उनका त्याग-वैराग्य पूर्ण जीवन समाज को अपने महत्तम लक्ष्य की ओर आगे चलने में सहायता करता था। समाज भी अपनी ओर से उदारता पूर्वक उनके जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ-- भोजन एवं वस्त्रादि—पूरी करता था। संन्यासियों को अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने की चिन्ता नहीं करनी थी। समाज उनकी न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता था, जिससे वे बिना किसी बाधा या रुकावट के, साधन-पथ पर सदैव चलते रहें। लेकिन आज परिस्थिति बदली हुई है। भारत के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन की प्राचीन व्यवस्था तितर-बितर हो गयी है। गीता के प्रारंभ में, अर्जुन श्रीकृष्ण से युद्ध के गर्हित परिणामों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उससे भीषण नरहत्या होती है तथा अधर्म की अतिशय वृद्धि होती है। और जब कभी घोर अधर्म का प्राबल्य होता है तब सभी प्रकार के गलत आदर्शों की प्रधानता जोर पकड़ लेती है, तथा जीवन के उच्चतम आदर्श विस्मृत हो जाते हैं। इस तरह समग्र सामाजिक जीवन ही अधः पतित हो जाता है।

अर्जुन की उक्त अभिव्यक्ति को, वर्तमान युग में भी, दो विश्वयुद्धों के बाद, हम अक्षरशः सत्य पाते हैं। सामाजिक जीवन तितर-बितर हो गया है, उच्चतर मूल्य चूक गये हैं और लोग गलत मूल्यों के गठबंधन में आबद्ध हो गए हैं। भारत में ही नहीं, समस्त विश्व में, इस मूल्यहीन अस्त-व्यवस्तता का साम्राज्य है। हमारे चारों ओर हताशा का विषाद-चित्र फैला हुआ है। दुःख तथा हताशा की ऐसी परिस्थिति में, संन्यासियों के रूप में हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये? संन्यासी के रूप में हम एक कठिन परिस्थिति के समक्ष हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए हमारे पास दो ही दृष्टियाँ हैं। या तो हम उक्त समस्या से उदासीन होकर, अपने को समाज से अलग-थलग रखें, जैसा अभी तक करते आये हैं; या हम समाज-व्यापी दुःखों को अपने दुःख के रूप में अनुभव करते हुए लोगों के पास पहुँचें, तथा सामान्य मनुष्य के स्तर पर उतरकर उनके साथ कार्य करें और उन्हें भी फिर से ऊपर उठायें। मुझे तो ऐसा लगता है कि दूसरा विकल्प ही समीचीन है, और उसी की सम्यक् प्रतिष्ठा होनी चाहिये, क्योंकि यदि हम संन्यासी ही समाज से पूरा कटकर रहने लगें और लोगों के साथ नहीं मिले-जुलें, तो हमारा संन्यस्त मठ-जीवन भी खतरे में पड़ जायगा और धीरे-धीरे प्रभाव शून्य या शक्तिहीन हो जायगा। जहाँ तक मैं अवगत हूँ, आज सभी संन्यास-परंपराओं में संन्यासियों की बड़ी कमी है। अगर यह बात गलत हो, तो दूसरी सही बात भी स्वीकार कर सकता हूँ। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि अच्छे संन्यासियों की संख्या धीरे-धीरे घट रही है। ऐसा क्यों है? इसलिए कि समस्त सामाजिक जीवन से त्याग-वैराग्य की चेतना ही विदा हो गयी है। हम संन्यासी लोग अदृश्य स्वर्ग से टपककर जमीन पर नहीं आते हैं; हम तो समाज से ही निकल कर आते हैं। स्वस्थ नैतिकता से संपन्न एवं उच्चादर्शों के प्रति दृढ़ता से समर्पित, सामाजिक जीवन से ही अच्छे संन्यासियों का उद्भव होता है। अगर हम लोगों के पास जाने तथा उनके साथ कार्य करने से कतरायें, तो वे भला किस तरह अपना सुधार करते हुए सम्यक् मार्ग का अनुसरण कर सकेंगे! अगर सामान्य सामाजिक जीवन में नैतिक तथा आध्यात्मिक सुधार नहीं हो, तो हमें ऐसे बच्चे कहाँ से मिलेंगे, जिनके चित्त में

त्याग-वैराग्य की पवित्र अग्नि प्रदीप्त हो ? और अगर ऐसे रुग्ण समाज से कुछ बच्चे संन्यासी-जीवन का वरण करने के लिए आगे आयें भी तो वे, जैसा श्रीधर स्वामी ने अपने गीता-भाष्य में बताया, 'पिशुनाः कलहोत्सुकाः', अर्थात् सदैव परदोषदर्शी और कलहातुर रहेंगे।[1] अतः हम संन्यासियों का यह दायित्व है, और हमारे हित में ही है, कि हम लोगों के पास जाकर उनके नैतिक एवं आर्थिक अभ्युदय के लिए प्राणपन से चेष्टा करें। इसके अतिरिक्त साधुओं के रूप में हम समाज के ऋणी भी हैं, और हमें यह ऋण अवश्य ही चुकाना चाहिये। जन-समुदाय की स्थिति सुधारने की चेष्टा करके तथा लोगों को श्रेयस्कर आधार-भूमि पर समाज का पुनर्निर्माण करने में सहयोग प्रदान करते हुए, हम सामाजिक ऋण को चुका सकते हैं।

यह एक प्रश्न हो सकता है कि कैसे साधु-लोग पूर्वोक्त सुधार की दिशा में कार्य कर सकते हैं ? मुझे ऐसा लगता है कि हमारी सारी कठिनाइयों और विपत्तियों की जड़ हमारी शिक्षा-पद्धति में है। हमारी शिक्षा बिल्कुल ही शिक्षा कही जाने योग्य नहीं है। यह ऋणात्मक शिक्षा है। धर्म एवं नीतिशास्त्र का इस शिक्षण-पद्धति में कोई स्थान ही नहीं है। हमारे शिक्षण-संस्थान बच्चों को समुचित संस्कार प्रदान नहीं कर पाते हैं। अगर हमारी शिक्षा-प्रणाली खराब है, तो हम इससे महापुरुषों के निकलकर आगे आने, राष्ट्र का दायित्व सँभालने तथा लोगों की सहायता करने की उम्मीद नहीं कर सकते। अतः इस शिक्षण-पद्धति में आमूल परिवर्त्तन की आवश्यकता है। सच्ची शिक्षा, जैसा स्वामी जी ने बताया, मानव-निर्माण करनेवाली होती है। निश्चय ही, इस प्रकार की शिक्षा नदान करने का दायित्व संन्यासियों को स्वयं पूरा करना चाहिये। तभी हमारी शिक्षा-पद्धति आध्यात्मिक आधारशिला पर प्रतिष्ठापित हो सकती है। प्राचीन युगों में, भारत की शिक्षा-पद्धति इसी प्रकार की थी। उसमें धर्मेतर वस्तुओं के साथ ही अध्यात्म पर भी पर्याप्त जोर दिया जाता था। मुझे नारद के जीवन की घटना का स्मरण होता है, जब वे ऋषि सनत्कुमार के पास गये थे और उनसे निवेदन किया, "मैंने समग्र वेदादि का अध्ययन किया है, किन्तु मुझे मन की शांति नहीं मिलती है।" गुरु ने पूछा, "अच्छा, तुमने और सब-कुछ तो जान लिया है, किन्तु क्या तुम सत्य को जानते हो ?" "नहीं", नारद का उत्तर था। कथा इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक आधार भूमि के बिना हमारी शिक्षा बेमानी है। चन्द्रमा या मंगल ग्रहों पर पहुँच जाने की उपलब्धियों पर हम कितना भी गर्व क्यों न करें, ये हमें अपने आदर्श की ओर नहीं ले जा सकती हैं।

वर्तमान परिस्थिति में हमारा साधु-समाज महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जब हमारी पाठशालाएँ एवं शिक्षण-संस्थाएँ बच्चों के चरित्र का निर्माण करने वाली शिक्षा देने में असमर्थ हैं, तो संन्यासियों के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे शिक्षण-कार्य अपने हाथों में लेकर, बच्चों को समुचित शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा करें। धन-संपत्ति मात्र से ही मनुष्य की सुरक्षा नहीं हो सकती है। ठीक ही कहा गया है कि मनुष्य खाने के लिये जीवन धारण नहीं करता। जीने के लिए उसे कुछ और-भी चाहिए और वह कुछ-और जीवन के उच्चतर मूल्य ही हैं। साधु-समाज को गाँव-गाँव में जाकर, जन-जन को, धर्म-अध्यात्म तथा चरित्र-निर्माण के विज्ञान का उपदेश प्रदान करना चाहिये, जिससे लोगों में उच्चतर मूल्यों की चेतना का विकास हो। साथ ही, उन्हें हस्त-कलाएँ तथा ग्रामीण उद्योग-धंधे, स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा भी दी जानी चाहिए, जिससे उनका सर्वांगीण विकास हो सके। क्योंकि, मात्र धार्मिक शिक्षा से भी बहुत लाभ नहीं होगा, जिसका कारण यह है कि हमारे देश के आधे-से-अधिक लोग गरीबी की रेखा के

---

१. प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः॥

सुरेश्वर, नैष्कर्म्य सिद्धि, श्रीधर द्वारा उद्धृत, गीता ५, ६

भी नीचे जी रहे हैं। पहले तो उन्हें गरीबी से मुक्त होने में ही सहायता की जानी चाहिए। श्रीरामकृष्ण देव इसी अर्थ में कहते थे कि बुभुक्षितों को धर्म-शिक्षण प्रदान करना निरर्थक है। "धर्म खाली पेट में नहीं रुचता।"

इस प्रकार, हमारे साधु-लोग एक नयी समाज-विधा का निर्माण कर सकते हैं—जगत् के लोगों के पास जाकर, मानव-मानव की अस्वाभाविक विभिन्नताओं को हटाकर, और जातिवादी पूर्वाग्रहों से बने हुए असंतुलन का निराकरण करके। उन्हें अधिक-से-अधिक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का स्थापन-संचालन करना चाहिए जहाँ अध्ययन करके विद्यार्थी भारत के जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में सीखते हुए धर्म-निरपेक्ष शिक्षण भी प्राप्त कर सकें। इस प्रकार साधु-समाज के सदस्यों के साथ साधारण लोगों का एक मुक्त धरातल पर परस्पर साथ होना या मिलना-जुलना बढ़ेगा। अगर हम संन्यासी सामान्य जनता के साथ इस तरह का घनिष्ठ संवाद-सम्बन्ध बनाकर रखते, तो हाल की वह दुर्भाग्य पूर्ण घटना नहीं होती, जिसमें हमारे अनेक बन्धुओं ने पर धर्म को वरण किया था। अब इससे हमें एक शिक्षा लेनी चाहिए, और समाज के सभी स्तर के लोगों के साथ फलदायी घनिष्ठ सम्बन्ध का निर्माण करने की दिशा में क्रियाशील हो जाना चाहिए। हम धर्मेतर शिक्षण अवश्य प्रदान करें और साथ ही मोक्ष-रूप महत् आदर्श को उपलब्ध होने के लिए भी उन्हें तैयार करें। यह ठीक है कि हम उन्हें मोक्ष-रूप आदर्श की शिक्षा देते आये हैं, किन्तु खाली-खाली, भूखे पेटवालों को उक्त शिक्षण से कोई लाभ नहीं हुआ। अतः हम संन्यासी या साधु-समाज के सदस्यों को अपने स्तर से नीचे उतर कर, लोगों के साथ मिलना-जुलना चाहिये, उन्हें शिक्षा प्रदान करना चाहिए तथा उनके आर्थिक, शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक उन्नयन के लिए कार्य करना चाहिए। जब ये सभी बातें ठीक स्थिति में आ जायँगी, तब स्वयं ही लोग धर्म की ओर मुड़ेंगे। जब मनुष्य का सामाजिक जीवन इस तरह स्वस्थ हो जाय, तब हम संन्यासी इस जगत्-कर्म से लौटकर अपने मठों में विश्रमित हो सकेंगे, या वनस्थ हो सकेंगे, या पारंपरिक प्रणाली से जी सकेंगे। इस प्रकार का संन्यासी-जीवन स्वामी जी द्वारा निर्देशित आदर्शों के अनुकूल होगा।

मुझे शंका है कि कहीं मैं अपनी सीमा-रेखा के बाहर न चला गया होऊँ, किन्तु आप विश्वास करें कि मैंने ये शब्द उपदेश देने की दृष्टि से नहीं कहे हैं। कृपया आप मुझे गलत न समझें। मैं साधु-समाज के सदस्यों को उपदेश देने की धृष्टता नहीं कर सकता। मैं तो सिर्फ बोल-बोल कर चिन्तन कर रहा था। मैंने मात्र एक प्रकार से आत्म-विश्लेषण किया है। मैं विगत दिनों में बराबर यह सोचता रहा हूँ कि हम संन्यासी समाज के लिए क्या कर सकते हैं। अभी मैंने उन विचारों को ही शब्द-रूप दिया है, इससे अधिक कुछ नहीं।

उपर्युक्त विचार-धारा का यह तात्पर्य नहीं है कि मात्र संन्यासी ही ये सभी कार्य करें। सामान्य गृहस्थ-भक्तों को भी यह सब करना चाहिए। विशेषतः श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी के गृहस्थ भक्तों को गाँवों में जाकर वहाँ के दीन-हीन और उपेक्षित लोगों को आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सहायता करनी चाहिए। तभी वे श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के शिष्य कहे जाने लायक होंगे।

अन्ततः श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के चरणों में यह प्रार्थना है कि वे अपनी कृपा बरसावें, जिससे हम भारत तथा समग्र विश्व में व्यापी हुई इस गहन आपत्ति-वेला के पार हो सकें, और एक ऐसे नवीन सामाजिक जीवन का सूत्रपात करें, जिसमें लोग धार्मिक जीवन को अपनायें, ईश्वर में उन्हें विश्वास हो तथा वे आनन्दपूर्वक जीवन-यापन कर सकें।

अनुवादक—
शितिकंठ बोधिसत्व

('प्रबुद्ध भारत', अद्वैत आश्रम, कलकत्ता के जून १९८२ अंक से सानुमति-साभार अनूदित)

धारणा : कुछ यौगिक रीतियाँ

—स्वामी सोमेश्वरानन्द

[पातञ्जल अष्टाङ्ग योग का छठा चरण है—धारणा या एकाग्रता। मन के एकाग्र होने के उपरान्त ही साधक ध्यान या सच्ची आराधना में डूबकर समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। मन को इस तरह एकाग्र करने के क्या कुछ उपाय हैं? अद्वैत आश्रम, कलकत्ता के स्वामी सोमेश्वरानन्द ने "दि वेदान्त केसरी" नवम्बर-दिसम्बर १९८१ के विशेषांक में प्रकाशित अपने अंग्रेजी आलेख 'धारणाः सम योगिक प्रेक्टिसेज' में आजमाये हुए कुछ विशेष निर्देश बताये हैं जिनका पालन कर नये साधक भी मन को एकाग्र कर सकेंगे। प्रस्तुत निबन्ध उपर्युक्त आलेख के एक अंश का देव आनन्द द्वारा प्रस्तुत भावानुवाद है जिसे श्रीरामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास, के सौजन्य से साभार प्रकाशित किया जाता है।]

(—सम्पादक)

धारणा का अर्थ होता है मन को स्थिर करना। प्रारम्भ में साधकों को ध्यान में कठिनाई होती है क्योंकि वे धारणा का अभ्यास किये बिना ध्यान की चेष्टा में लग जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट अष्टांग का छठा चरण है धारणा और सातवाँ है ध्यान। स्पष्ट है कि धारणा का पूरा अभ्यास किये बिना ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान की चेष्टा में लगे नये साधक वस्तुतः प्रत्याहार और धारणा का ही अभ्यास करते हैं। वे मन को ध्यानस्थ करना चाहते हैं पर शीघ्र कई अन्य विचार मन में आने लगते हैं। तब साधक इन बाह्य विचारों से मन को हटा कर पुनः अपना ध्यान अपने इष्ट पर केन्द्रित करने की चेष्टा करता है। इस प्रक्रिया में पहले प्रत्याहार और फिर धारणा का सहारा लेना पड़ता है। वस्तुतः धारणा मन की एकाग्रता ही है और ध्यान एकाग्र मन से इष्ट की आराधना।

धारणा के अभ्यास के लिए कई उपाय बताये गये हैं। प्रारम्भ में इस प्रक्रिया में ज्ञानेन्द्रियों की सहायता लेना एकबारगी धारणा का वैचारिक अभ्यास करने की तुलना में सुगम है। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन को पहले किसी बाह्य भौतिक वस्तु पर और बाद में योग-चक्रों पर केन्द्रित करना चाहिए। सबसे अन्त में ध्यान का प्रयास करना उचित है।

मन स्वाभावतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभूत भौतिक संवेदनाओं की ओर आकृष्ट होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ हमारी पाँच हैं—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा जिनसे हमें क्रमशः दृष्टि, ध्वनि, गंध, स्वाद तथा स्पर्श की अनुभूति होती है। धारणा के प्रारम्भिक चरणों में किसी भी ज्ञानेन्द्रिय की स्वतः अनुभूति पर मन को केन्द्रित करने की चेष्टा की जा सकती है।

आँखों से

किसी चित्र, छवि या अपने इष्ट की मूर्ति को ध्यान से देखें। यह एक सामान्य क्रिया है पर इससे जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण योगाभ्यास है जिसे त्राटक (अर्थात् एकटक देखना) कहते हैं। त्राटक का अभ्यास एक काले बिन्दु, मोमबत्ती की लौ, चमकीले धातुखण्ड आदि की सहायता से किया जा सकता है। उजले कागज के एक पन्ने पर आधे इंच व्यास का एक काला वृत्ताकार धब्बा बनावें। कागज को किसी जगह टाँग दें ताकि धब्बा आपकी आँखों से लगभग दो फुट की दूरी पर रहे। यदि त्राटक का अभ्यास आप प्रतिदिन किसी नियत स्थान पर बैठकर करते हों तो उपर्युक्त काला धब्बा आप सामने की धवल दीवार पर भी बना ले सकते हैं। अपनी दृष्टि उस काले धब्बे पर केन्द्रित करें। इस प्रक्रिया में पलकें न गिरने दें और अपनी दृष्टि स्थिर और पैनी बनाये रखें। यदि

आँखें नम हो आयें या पलकें बरबस झपकने लगें तो कुछ देर विश्राम कर पुनः अभ्यास प्रारम्भ करें। कुछ ही दिनों में आप पायेंगे कि आसानी से ७-८ मिनटों तक आप अपनी दृष्टि लगातार एक विन्दु पर केन्द्रित रख सकते हैं। इस अन्तराल पर सामने के काले विन्दु के सिवा और किसी वस्तु का विचार मन में न आनें दें। यदि धब्बे का आकार बढ़ा हुआ दिखे अथवा भ्रमवश एक के बदले अनेक धब्बे एक साथ दिखें, या फिर धब्बे के सिवा वहाँ अन्य कुछ दिखे तब भी निराश होने की आवश्यकता नहीं। तत्क्षण एक पल के लिए आँखें बन्द कर लें और फिर से त्राटक का अभ्यास प्रारम्भ करें।

काले धब्बे के बदले मोमबत्ती की लौ से भी यह अभ्यास किया जा सकता है। इसके लिए कमरे में अँधेरा कर एक मोमबत्ती जलाकर उसकी शान्त स्थिर लौ पर एक टक देखना होता है।

त्राटक का अभ्यास प्रतिदिन प्रातः और संध्या को कम-से-कम १५ मिनट के लिए करना चाहिए। इससे मन स्थिर करने में सहायता मिलती है। पर कमजोर दृष्टि साधकों को बिना किसी सुयोग्य गुरु के निर्देश के यह अभ्यास नहीं करना चाहिए।

त्राटक एक चमकीले धातु खण्ड या पत्थर, यहाँ तक कि अँगूठे के एक तिल पर देखकर भी किया जा सकता है। इन चीजों पर त्राटक का अभ्यास करने से साधक को पराभौतिक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं। पर यह चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी, विशेषकर इस कारण भी कि सिद्धियों के संधान में किये गये त्राटक के अभ्यास से नये साधकों की हानि भी हो सकती है। इतना कहना पर्याप्त है कि त्राटक धारणा का ही एक प्रकार है और इससे चित्त को स्थिर करने में सहायता मिलती है। स्थिर मन ही ध्यान में लिप्त हो आत्मज्ञान का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में सक्षम हो सकता है।

कान से

किसी भी रेडियो स्टेशन से प्रसारण बन्द होने के उपरान्त रेडियो पर उस मीटर पर आती सतत् हऽमऽ की ध्वनि अथवा बिजली के नाचते पंखे की सनसनाहट की आवाज पर मन एकाग्र करने की चेष्टा करें। (दक्षिणेश्वर में एक शिष्य को श्रीरामकृष्ण ने कारखाने के सायरन की ध्वनि की ही जिससे शिष्य को ध्यान से वाधा होती थी, धारणा करने को कहा था और शिष्य को शीघ्र ही इससे लाभ हुआ था। —अनुवादक) अनाहत ध्वनि की धारणा करने की चेष्टा, वैसे सबसे श्रेयस्कर है, पर नाड़ी शुद्धि के बाद ही अनाहत ध्वनि को सुनना सम्भव है।

जिस तरह प्राणायाम में पूरक, रेचक और कुम्भक, ये तीन चरण हैं वैसे ही नाड़ी शुद्धि के बस पूरक और रेचक दो चरण हैं। दाहिनी नासिका को (आवश्यक हो तो ऊँगली से—अनुवादक) बन्द कर बायीं से १२ सेकण्ड तक श्वास लें। फिर बायीं नासिका बन्द कर दाहिनी से १२ सेकण्ड तक प्रश्वास छोड़ें। पुनः इतने ही अन्तराल के लिए दाहिनी नासिका से श्वास लें और, अन्त में, बायीं नासिका से १२ सेकेण्ड तक प्रश्वास छोड़ें। इन चार प्रक्रियाओं को मिलाकर नाड़ी शुद्धि का एक चक्र पूरा हुआ। ध्यातव्य है कि इसमें कुम्भक नहीं होता। प्रारम्भ में प्रतिदिन प्रातः, अपराह्न, संध्या और मध्यरात्रि को नाड़ी शुद्धि के पाँच चक्रों से अभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है। तीन महीनों के अभ्यास के उपरान्त आपको दाहिने कान में एक विशेष ध्वनि सुनायी देगी वस्तुतः यह अनाहत ध्वनि नहीं वरन् उसकी एक पूर्ववर्ती ध्वनि है जो निरन्तर कानों में आती रहती है। आप इस पर भी मन केन्द्रित करने की चेष्टा कर सकते हैं। प्रारम्भ में यह ध्वनि झींगुर की या सनसाती मधुमक्खी की आवाज-सी जान पड़ती है। जैसे-जैसे धारणा तीव्रतर होती है, यह ध्वनि घण्टी या शंख की आवाज-सी सुनायी पड़ने लगती है। उच्च कोटि के साधक को यह ध्वनि दाहिने कान से हटकर मस्तक के पिछले हिस्से से आती जान पड़ती है और बाद को ऐसा लगता है मानो यह ध्वनि मेरुदण्ड से आ रही हो। इसके स्रोत पर धारणा करने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह ध्वनि हृदय या नाभि से आ रही हो। धारणा का ऐसा अभ्यास करने के समय आँखें बन्द और पीठ सीधी रख कर बैठना चाहिए।

नाक से :

घ्राणेन्द्रिय की सहायता से धारणा के अभ्यास की विधि पूर्वोक्त दो विधियों से अलग है। आसन पर आँखें बन्द कर श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया का अनुभव करने की चेष्टा करें। इस अभ्यास का प्राणायाम से कोई सम्बन्ध नहीं है, हालांकि इसमें श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया पर मन केन्द्रित किया जाता है। जिन साधकों ने गुरु से दीक्षा ग्रहण की है उन्हें चाहिए कि इस अभ्यास के दौरान अपना गुरु मंत्र भी दुहराते रहें। सम्पूर्ण मन्त्र को एक बारगी कहने से अच्छा है उसे दो भागों में बाँट लिया जाय। जैसे, मान लें, मन्त्र है "ॐ शिव"। श्वास लेने के समय तब एक बार 'ॐ' का उच्चारण किया जा सकता है और प्रश्वास छोड़ते समय एक बार शिव का। इस तरह श्वास-प्रश्वास के एक चक्र में एक बार पूर्ण मन्त्रोच्चारण भी हो जाता है। भक्त साधकों के लिए यह विधि अत्यन्त लाभप्रद है। एक मास तक इस प्रक्रिया का अभ्यास करने के उपरान्त मन्त्रोच्चारण का क्रम वदला अर्थात् 'ॐ' का उच्चारण एक वार प्रश्वास छोड़ने के समय और 'शिव' का एक वार श्वास लेते समय किया जा सकता है। यह अजपा-जप साधना का प्रारम्भिक चरण भी है।

जिह्वा से :

उच्च कोटि का आध्यात्मिक साधक ध्यान के दौरान कभी-कभी मुँह में शहद या किसी मीठे फल के रस के स्वाद का अनुभव किया करता है। इसे दिव्य स्वाद कहते हैं और साधक इस स्वाद की धारणा का अभ्यास भी कर सकता है।

जिन्हें इस दिव्य स्वाद का अनुभव नहीं होता वे तालु से जिह्वा के स्पर्श की अनुभूति मात्र पर मन केन्द्रित करने की चेष्टा कर सकते हैं।

त्वचा से :

बिस्तर पर लेटकर शरीर को ढीला छोड़ दीजिए। शरीर और बिछावन के स्पर्श-बिन्दुओं पर ध्यान दीजिए। इस अनुभूति पर मन केन्द्रित कीजिए। या फिर अपने निकट कोई वस्तु रखिए। आँखें बन्द कर उसका स्पर्श कीजिए। स्पर्श अनुभव कीजिए और इस अनुभूति पर मन एकाग्र करने की चेष्टा कीजिए।

उच्चतर साधनाएँ :

उपर्युक्त एक या अधिक प्रक्रियाओं से ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से धारणा का अभ्यास नये साधकों के लिए उपयुक्त है। हालांकि अनाहत-ध्वनि का अनुभव करना कठिन है, पर उपर्युक्त किसी भी प्रक्रिया से धारणा कर पाने से ध्यान अपेक्षाकृत सुगम होता है।

अब हम उच्चस्तर की धारणा की चर्चा करेंगे। अबतक जिन धारणाओं की चर्चा ऊपर की गयी उन्हें स्थूल धारणाओं की संज्ञा दी जा सकती है। अब हम सूक्ष्म धारणा का विवेचन करेंगे।

आँखें बन्द कर सीधा आसन पर बैठें। ललाट के अँधेरेपन की कल्पना करें। (मानसिक) विश्राम के क्षणों में ऐसा करें। कुछ समय बाद आप सितारे की तरह की एक ज्योति देखेंगे जो तुरन्त फिर खो जायेगी। फिर अँधेरे में धीरे-धीरे चलते उजले बादल के टुकड़े दीखेंगे, या नीली या नारंगी रंग की चीजें दीखेंगी अथवा विभिन्न रंगों का सम्मिश्रण दीखेगा या, कभी-कभी, सूर्य या चन्द्रमा सदृश प्रकाश पिण्ड दीख पड़ेगा। इन ज्योति पिण्डों या आकारों को समझने या उनमें भेद करने की चेष्टा न करें और न उन्हें गौर से देखें ही। बस एक निर्लिप्त दर्शक की भाँति देखते रहें। यदि कोई प्रकाश-पिण्ड आपको न दिखे तो भी निराश होने की आवश्यकता नहीं, अँधेरेपन को ही देखते रहें।

यदि साधक को धारणा का अभ्यास करने में कठिनाई हो, तब भी चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिए। 'मैं मन स्थिर नहीं कर पाता' यह किसी भी नये साधक की सामान्य शिकायत है। इसके कारण निराशा को प्रश्रय न देकर फिर नये सिरे से चेष्टा जारी रखना ही उचित है। यदि मन स्थिर न हो सके तो इसकी परवाह न कर मन की विचार प्रक्रिया पर ही ध्यान दें। सावधानी से गौर करें। आप पायेंगे कि कुछ बाह्य विचार मन में आकर चित्त चञ्चल कर देते हैं। और भी गौर करें। आप देखेंगे कि एक विचार मन में आता है, कुछ समय तक रहकर फिर

खो जाता है। फिर एक अन्य विचार आता है और वैसे ही, कुछ समय के विश्राम के अनन्तर वह भी खो जाता है। मन का ध्यान से अवलोकन करते रहें। आप पायेंगे कि मस्तिष्क के एक अंश में विभिन्न विचारों की शृंखला आती रहती है और दूसरा अंश मात्र उनका अवलोकन करता रहता है। सम्भवतः आपने सर्वदा ऐसा अनुभव किया है पर इस पर कभी गौर नहीं किया। आप यह भी पायेंगे कि मन का जो अंश विचारों का मात्र अवलोकन करता रहता है वह विचार शृंखला की तुलना में स्थिर है। इसी स्थिर अंश की धारणा करने की चेष्टा कीजिए। प्रारम्भ में यह कठिन जान पड़ेगा पर लगातार अभ्यास से न केवल मन स्थिर हो सकेगा वरन् साधक के लिए ध्यान भी अपेक्षाकृत सुगम हो जायेगा। मन का स्थिर अंश वस्तुतः 'मैं' की चेतना है और साधक को इसी अंश की पकड़ होनी चाहिए। निरन्तर अभ्यास से साधक को अनुभव होगा कि जैसे वह मात्र एक चेतना है—'मैं' की चेतना-भर रह जायेगी और मन विचार शून्य हो जायेगा। फिर साधक धारणा के एक उच्चतर स्तर तक पहुँच सकेगा जब उसे लगेगा जैसे उसे स्वयं की अनुभूति हो रही हो। फिर उसे, 'मैं हूँ' मात्र का अनुभव होगा और बाद को केवल 'हूँ' का। ऐसी स्थिति में यदि साधक को ऐसा प्रतीत हो जैसे एक बड़े गहरे काले गड्ढे में उसका सम्पूर्ण अस्तित्व विलुप्त हो रहा हो तो उसे भयाक्रान्त न होने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि इस स्थिति का सामना साधक कर सका तो उसे शीघ्र ही समाधि की प्राप्ति होगी।

प्रस्तुत आलेख में धारणा के लिए विभिन्न योग साधनाओं की चर्चा की गयी है। साधक को इन सब का अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं। वह इनमें से कोई भी अपने उपयुक्त चुन सकता है। उल्लेखनीय है कि मन को धारणा के लिए तैयार करने के सीमित उद्देश्य से साधनाओं का सरलतम विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वैसे अपने में इनमें से प्रत्येक एक अलग विस्तृत साधना है जिससे साधक मन के अन्तर्निहित रहस्यों और सत्यों का उद्घाटन स्वयं कर सकता है।

जन्म तिथि पर

स्वामी निरञ्जनानन्द

—देव आनन्द

नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द), राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द), योगीन (स्वामी योगानन्द), बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) और पूर्ण (जो बाद में गृहस्थ बने) के साथ नित्य निरञ्जन घोष (स्वामी निरञ्जनानन्द) श्रीरामकृष्ण देव के उन चुने हुए भक्त शिष्यों में थे जिन्हें परमहंसदेव नित्य सिद्ध या ईश्वर कोटि का कहा करते। नित्यसिद्ध से तात्पर्य ऐसी महान् आत्माओं से है जिन्हें आजन्म ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त रहता है और जो कभी माया की पकड़ में नहीं आते। इसी संदर्भ में प्रायः श्रीठाकुर वेदों में उल्लिखित होमा पक्षी की चर्चा किया करते थे जो आकाश में बहुत ऊँचाई पर ही सदा रहा करते हैं, यहाँ तक कि वे अण्डे भी ऊँचे आकाश में ही दिया करते हैं और धरती तक पहुँचने के पूर्व ही गिरते-गिरते अण्डे से बच्चा निकल आता है, उसके पंख उग आते हैं और धरातल पर गिरने के पूर्व ही शिशु पक्षी फिर ऊपर अपने माता-पिता की ओर उड़ान भर लेता है। अस्तु।

स्वामी निरञ्जनानन्द को पूर्वाश्रम में छोटे नाम निरञ्जन से पुकारते थे। इनका जन्म चौबीस परगना जिले के राजारहाट-विष्णुपुर गाँव में हुआ था और कलकत्ते में किशोरावस्था से ही आप अपने चाचा श्री कालीकृष्ण मित्र के साथ रहकर पढ़ा करते थे। उन्हीं दिनों आप कुछ परा मनोवैज्ञानिकों के सम्पर्क में आये जो आपका उपयोग दिवंगत आत्माओं के लिए एक माध्यम के रूप में करने लगे। इन्हीं दिनों आपमें अनायास ही कुछ सिद्धियाँ भी विकसित हो आयीं जिनसे प्रायः बीमार लोग चंगे हो जाया करते। कहते हैं अठारह वर्षों से अनिद्रा रोग से पीड़ित एक धनाढ्य व्यक्ति भी तब एक बार निरञ्जन के पास चिकित्सा के लिए आये थे। बाद के दिनों में स्वामी निरञ्जनानन्द इस घटना का उल्लेख कर कहा करते, "मुझे याद नहीं कि मुझसे उस व्यक्ति का कुछ भला हो पाया या नहीं। पर सारी धन-सम्पदा के होते हुए उस व्यक्ति को इतनी पीड़ा में देखकर मुझे सांसारिक चीजों के थोथेपन का भान हो गया।"

श्रीरामकृष्ण देव की असाधारण आध्यात्मिक साधना और सिद्धि की चर्चा सुनकर किशोर निरञ्जन एक दिन अपराह्न वेला में दक्षिणेश्वर पहुँचे। कुछ भक्तों के अनुसार पहली बार निरञ्जन वहाँ अपने परा मनोवैज्ञानिक सहयोगियों के साथ आये थे और उनलोगों ने परमहंसदेव को भी माध्यम बनाकर कुछ प्रयोग करने चाहे थे। अपने सरल स्वभाव के अनुरूप ही श्रीरामकृष्ण भी तत्क्षण इसके लिए तैयार हो गये। पर बाद में किसी कारणवश उनका मन इस प्रयोग से उचट गया और परा मनोवैज्ञानिकों का प्रयोग धरा रह गया। पर निरञ्जन के जीवन की दिशा इस भेंट के बाद बदल गयी।

श्रीठाकुर के प्रथम दर्शन के समय निरञ्जन की आयु अठारह वर्ष की रही होगी। किशोरावस्था से ही उनकी लम्बी और स्वस्थ सुडौल काया थी और उनकी आँखों में निर्भयता का आलोक सहज ही दीख पड़ता था।

श्रीरामकृष्ण भक्त मण्डली के बीच बैठे थे। सन्ध्या होने पर जब भक्तगण चले गये तब श्रीरामकृष्ण निरञ्जन की ओर उन्मुख हुए और उनके विषय में कई बातें उन्होंने मालूम कीं। मृतात्माओं में उनकी रुचि ज्ञात होने पर निरञ्जन से आपने कहा, "बेटे, यदि तुम भूत-प्रेत की सोचते रहोगे तो स्वयं भी भूत-प्रेत ही बन जाओगे। और यदि तुम ईश्वर का चिन्तन करोगे तो तुम्हारा जीवन भी ईश्वरमय हो जायगा। तुम्हें क्या पसन्द है?" "बेशक ईश्वरमय जीवन ही" निरञ्जन ने उत्तर दिया। इसपर श्रीरामकृष्ण ने परामनोवैज्ञानिकों से उन्हें अपना सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ लेने को कहा। कहना न होगा कि उस दिन से निरंञ्जन की मृतात्माओं में कोई रुचि नहीं रह गयी।

प्रथम दर्शन के दिन ही श्रीठाकुर का निरञ्जन से वार्तालाप ऐसा अन्तरंग था मानो दोनों चिर-परिचित हों। अंधेरा हो आने पर श्री रामकृष्ण ने उन्हें रात को दक्षिणेश्वर में ही ठहर जाने को कहा। पर अपने चाचा की चिन्ता का विचार कर निरञ्जन उस रात को ही कलकत्ता लौट आये, पर उन्होंने फिर से दक्षिणेश्वर आने का वचन दिया।

उस संध्या की थोड़े समय की भेंट ने ही निरञ्जन को इतना प्रभावित किया कि न केवल लौटते समय रास्ते में, वरन् घर पहुँचकर भी, दिन-रात आपका ध्यान श्रीरामकृष्ण के साथ अपने छोटे वार्त्तालाप पर लगा रहा। दो-तीन दिनों के अन्तर ही बरबस आपको फिर श्रीरामकृष्ण के दर्शन हेतु दक्षिणेश्वर आना पड़ा।

जैसे ही दरवाजे के पास खड़े निरञ्जन पर श्रीठाकुर की दृष्टि पड़ी आपने दौड़कर उन्हें गले लगा लिया और भाव-भीने स्वर में उनसे बोले,—"बेटे, दिन बीतते जा रहे है, ईश्वर दर्शन कब करोगे? और यदि तुम ईश्वर को न पा सके तो सारा जीवन व्यर्थ हो जायगा। मुझे बहुत चिन्ता है कि तुम कब तन-मन से ईश्वर साधना में लग जाओगे।" किशोर निरञ्जन विस्मय से सोचते रह गये कि यह कौन मनुष्य है जो मेरी ईश्वरीय साधना के लिए इतना चिन्तित है! जो हो सच्चे दिल और सहज प्रेम से कहे श्रीरामकृष्ण के शब्दों ने निरञ्जन के हृदय को छू लिया। उस रात वह दक्षिणेश्वर में ठहर गये। बाद के दो-दिन लगातार दक्षिणेश्वर में ही अनिर्वचनीय सुख में

बीते। पीछे दिन कलकत्ता लौटने पर चाचा की कड़ी फटकार निरञ्जन को मिली और साथ ही कई दिनों तक उनके कहीं बाहर निकलने पर रोक भी लगा दी गयी। बाद को चाचाजी ने उन्हें जब कभी इच्छा हो दक्षिणेश्वर जाने की छूट दे दी।

निरञ्जन अत्यन्त सरल हृदय और स्पष्ट वक्ता थे। श्रीठाकुर कहा करते थे कि निरञ्जन की सरलता और दो टूक बोलने का स्वभाव पूर्व जन्म में उनकी तपस्या से अर्जित हैं और इन असाधारण गुणों का होना मनुष्य के लिए ईश्वर दर्शन की सम्भावना का द्योतक है। निरञ्जन के विषय में श्रीठाकुर यह भी कहा करते कि वह राम के चारित्रिक गुणों के साथ ही जन्मे थे।

युवा निरञ्जन को विवाह से तीव्र घृणा थी। जब बिरादरी वालों ने विवाह के लिए उन पर दबाव डाला तो वह अत्यन्त भयभीत हो गये। उन्हें लगा मानों उन्हें बलात नाश की ओर घसीटा जा रहा हो। वह एक अत्यन्त शुद्ध आत्मा थे। श्रीरामकृष्ण देव प्रेमवश कहा करते "मेरा निरञ्जन सच ही बिना किसी अञ्जन (धब्बा) का है।"

अत्यन्त कोमल हृदय का होने पर भी क्रोध आने पर निरञ्जन अपनी सुध-बुध खो बैठते थे। एक बार नाव में बैठकर वे दक्षिणेश्वर जा रहे थे। बीच नदी में कुछ सहयात्रिगण दक्षिणेश्वर मन्दिर को लक्ष्य कर श्रीराम-कृष्ण के विषय में अनाप-शनाप बोलने लगे कि वे सुख-सुविधा प्रेमी और मिथ्याचारी है तथा कच्ची उम्र के सरल हृदय किशोरों को बहकाया करते हैं। वार्त्तालाप निरञ्जन के कानों में भी पड़ा। पहले तो उन्होंने वस्तु स्थिति उन्हें बताने की चेष्टा की पर परापवाद प्रेमी यात्रियों पर कोई असर न होते देख निरञ्जन क्रुद्ध होकर नाव को बीच धारा में ही जोर-जोर से हिलाने लगे। उन्होंने यह धमकी भी दी कि अब यात्रियों को उनकी अपवाद पूर्ण बातों के लिए नदी में डुबाकर ही दम लेंगे। निरञ्जन को स्वयं अच्छा तैरना आता था और आवश्य-कता होने पर स्वयं तैरकर दूसरे किनारे तक आसानी से पहुँच सकते थे। फिर उनका विशाल डील-डौल और भयंकर क्रोध देखकर यात्रियों के होश तुरन्त ठिकाने आ गये। उन्होंने हाथ-पैर जोड़ कर उनसे क्षमा माँगी। श्रीरामकृष्ण को जब यह घटना मालूम हुई तो उन्होंने निरञ्जन को समझाया, "क्रोध मरणान्तक पाप है, तुम इसके वश में न आया करो। मूर्ख लोग अज्ञानवश बहुत-सी बातें कहते रहते हैं। तुम्हें उन बातों का ध्यान भी देना उचित नहीं।" *

श्रीरामकृष्ण की इहावस्था में ही निरञ्जन को एक बार किसी दफ्तर में नौकरी करनी पड़ गयी। यह सुनकर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त दुःखी हुए और कहा, "उसकी मृत्यु की सूचना मिलने पर भी मुझे इतना क्लेश नहीं होता।" बाद को जब आपको ज्ञात हुआ कि निरञ्जन ने अपनी वृद्धा माँ के पालन के लिए नौकरी की है तो आपने चैन की साँस ली, "अहो, तब यह ठीक है। तब नौकरी से तुम्हारा चित्त कलुषित नहीं होगा। यही काम तुमने स्वयं अपने लिए किया होता तो तुम्हारा स्पर्श भी मुझे सहन नहीं होता। सचमुच, मेरे लिए ऐसा सोचना भ

* एक ऐसी ही घटना उन्हीं दिनों योगीन्द्र नाथ चौधरी (स्वामी योगानन्द) के साथ घटी थी। योगीन किशोरावस्था से ही अत्यन्त मृदुल स्वभाव के थे। बिल्कुल समान परिस्थितियों में नाव से दक्षिणेश्वर आते समय गुरु के विषय में तथ्यहीन अपवाद विषयी सहयात्रियों के मुख से सुनकर योगीन को क्लेश अवश्य हुआ, पर उन्होंने झूठी कथाएँ गढ़ने वाले यात्रियो की भर्त्सना नहीं की। श्रीठाकुर को भक्तों या किसी की भी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं हो सकती, वे इन मूर्खों के मिथ्या प्रलापों से बहुत ऊँचे हैं, योगीन ने सोचा। दक्षिणेश्वर आकर उन्होंने इस घटना की चर्चा श्रीरामकृष्ण की उपस्थिति में की। इस पर श्री- रामकृष्ण की प्रतिक्रिया दूसरी हुई। उन्होंने कहा "शिष्य को गुरु के विषय में अपवादपूर्ण बातें कभी नहीं सुननी चाहिए। यदि शिष्य वैसी बातों को रोक नहीं सकता तो उस जगह को तो उसे तुरन्त छोड़ ही देना चाहिए।"

दुष्कर था कि तुम निज के लिए इतने नीचे आ सकोगे।" यह सब सुनकर उपस्थित भक्त मण्डली में से एक ने जब पूछा कि नौकरी अगर इतनी बुरी है तो अपना और अपने भरण-पोषण के लिए कोई कर ही क्या सकता है तो श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "दूसरे जो जी चाहे करें। यह सब तो मैंने वैसे साधकों के लिए कहा जो अपने में एक अलग कोटि के ही हैं।"

सेवा और भक्ति में निरञ्जन स्वामी का कोई सानी न था। काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण जब गले के भयंकर रोग से आक्रान्त थे तब निरञ्जन उनके उन युवा भक्त शिष्यों में थे जिन्होंने दिन-रात एक कर उनकी सेवा इस विश्वास से की कि अपनी भक्तिपूर्ण सुश्रूषा से वे श्रीरामकृष्ण को नीरोग कर सकेंगे।

श्री ठाकुर के महाप्रयाण के बाद भक्त मण्डली ने निर्णय किया कि उनके अस्थि अवशेष गंगा में प्रवाहित कर दिये जायँ। पर बाद में रामचन्द्र दत्त तथा अन्य कुछ भक्तों ने उन्हें कलकत्ता पूर्व में काँकुड़ गाछी ले जाना चाहा। यदि परमहँसदेव के भौतिक अवशेष का अधिकांश उनके युवा संन्यासी भक्तों के पास रह सका (जिसे कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द ने, जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने कहा था, 'तुम जहाँ कहीं भी मुझे ले जाओगे मैं वहीं रहूँगा', अपने सिर पर ले जाकर वर्तमान वेलुड़ मठ में प्रतिस्थापित किया) तो इसका श्रेय निरञ्जन स्वामी की साहसपूर्ण जिद और बुद्धिमत्ता पूर्ण तरकीब को ही है।

श्रीरामकृष्ण के महाप्रयाण के उपरान्त अन्य गुरु-भाइयों के साथ निरञ्जन स्वामी भी बरानगर मठ में रहकर कठिन साधना में तन-मन से लग गये। संन्यासी सुलभ स्वाधीनता की माँग में आप कभी-कभी परिव्राजक भी बनते रहे, पर बरानगर और बाद को आलमबाजार का मठ श्रीरामकृष्ण से अनुप्राणित सभी युवा संन्यासियों के साथ-साथ आपके लिए भी मुख्यालय (Head Quarter) बना रहा।

श्री ठाकुर के पार्थिव अवशेषों की पूजा शशि महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) के साथ मिलकर आप भी असाधारण भक्तिभाव एवं धीरता से आजीवन करते रहे। श्रीरामकृष्ण में आपकी जीवन्त आस्थाजन्य दृढ़ता और बल के कारण ही संसार की प्रशंसा या दोषारोपण की आपने कभी परवाह नहीं की।

पाश्चात्य सभ्यता पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर स्वामी विवेकानन्द के स्वदेश लौटने पर स्वामी निरञ्जनानन्द अपने गुरुभाई की अगवानी के लिए कोलम्बो गये और वहाँ से स्वामी जी के साथ उत्तर भारत के कई नगरों में भी गये। कुछ समय तक आप वाराणसी में अकेले भिक्षाटन कर तपस्या में लगे रहे।

आकृति से विशाल होने पर भी स्वामी निरञ्जनानन्द हृदय के अत्यन्त कोमल और शिशुवत् थे। १९०४ में अपने देहावसान के कुछ दिन पहले श्री श्री रामकृष्ण की लीला सहधर्मिणी श्री सारदामणि देवी के साथ के उनके दिन अत्यन्त हृयय-स्पर्शी थे। तब उन्होंने अपनी आसन्न महायात्रा की कोई चर्चा नहीं की, पर माँ से बिछुड़ते एक शिशु की नाईं जो यह मान लेता है कि वह माँ से बिछुड़ने वाला है, पूरे जोर से माँ को पकड़ लेता है, वे श्रीमाँ से लगे रहे। जब तक श्रीमाँ के साथ रहे आप अपना हर काम बाल सुलभ हठ के साथ उनसे ही करवाते रहे। यहाँ तक कि आप श्रीमाँ की बनायी हुयी चीजें ही उन दिनों खाते रहे और कभी-कभी तो जिद करके उन्हीं के हाथों खाया भी करते। श्रीमाँ से विदा लेने की घड़ी आप विकल हो उनके पाँवों पर गिर पड़े और चुपचाप रोते रहे। फिर उतनी ही चुप्पी लगाये आप उनके सम्मुख से एकबारगी चले भी गये। शायद उन्हें भान हो आया था कि अब पुनः श्रीमाँ के पावन सान्निध्य का अवसर उन्हें नहीं मिलने वाला है।

सचमुच श्रीमाँ के लिए उनकी ममता और भक्ति जितनी अनुपम थी उतनी ही असाधारण भी। स्वामी विवेकानन्द बाद के दिनों में कहा करते "श्रीमाँ के प्रति निरञ्जन की इतनी श्रद्धा है कि उसकी एक हजार एक भूल मैं बस इसी-लिए क्षमा कर सकता हूँ।" स्व० गिरीश चन्द्र घोष (श्रीरामकृष्ण के गृही भक्त और तत्कालीन बँगला रंगमंच के विख्यात प्रणेता) ने भी श्रीमाँ के लिए स्वामी निरञ्ज-नानन्द की अप्रतिम भक्ति की चर्चा करते हुए प्रारम्भ के

दिनों की एक घटना की चर्चा की थी। तब श्रीमाँ के ईश्वरत्व में सर्वत्र इतनी आस्था नहीं थी। गिरीश भी उन दिनों न विश्वास करनेवालों में ही थे। पर स्वामी निरञ्जनानन्द के साथ जयरामबाटी में श्रीमाँ के स्नेहमय संरक्षण में कुछ मास रहने के उपरान्त ही, गिरीश के ही शब्दों में, उनकी आँखें खुलीं। वस्तुत: स्वामी निरञ्जनानन्द की अडिग आस्था और उपदेश के कारण भी बहुत से सौभाग्यशाली भक्त क्रमश: श्री माँ की आध्यात्मिक महानता से परिचित हो सके जिनका आश्रय महर्षि अरविन्द की धर्मपत्नी ने लिया था और ऐसा जानकर श्री अरविन्द ने कहा था, "अब मुझे उसकी चिन्ता नही है। उसने बहुत ही विशाल आत्मा के चरणों में स्थान पाया है।"

स्वामी निरञ्जनानन्द के व्यक्तित्व में कोमलता और कठोरता का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। सत्य के लिए आपका प्रेम अविचल था और उसके लिए कोई भी मूल्य चुकाने के लिए आप तैयार रहा करते थे। एक बार कलकत्ते के एक सज्जन ने वाराणसी में एक शिव मन्दिर बनवाया। ऐसा मालूम होने पर स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि यदि दीन-दुःखियों का कष्ट दूर करने के लिए वह सज्जन कुछ कर सकें तो उन्हें एक हजार ऐसे मन्दिर बनवाने का पुण्य होगा। स्वामी जी की बात जब उन सज्जन के कानों तक पहुँची तो वाराणसी के रामकृष्ण मिशन सेवा गृह की सहायता के लिए एक बहुत बड़ी अनुदान राशि का प्रस्ताव लेकर वे उपस्थित हुए। बाद में, पहले क्षणों का उत्साह ठंढा होने पर, अनुदान की पूर्व प्रस्तावित राशि में उन सज्जन ने कटौती करनी चाही। अपने वचन लौटाने की उन सज्जन की इस चेष्टा से स्वामी निरञ्जनानन्द की सत्यनिष्ठा को इतना आघात लगा कि उन्होंने उन। छ भी अनुदान लेने से मना कर दिया, यद्यपि इससे वाराणसी के सेवा गृह को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

श्रीरामकृष्ण देव के पार्षदों की तो बात ही क्या किसी भी आध्यात्मिक साधक के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उसके जीवन की कतिपय घटनाओं से हो ही क्या सकता है! किसी साधक की आध्यात्मिक आभा की थोड़ी बहुत कल्पना यदि की जा सकती है तो उसके सान्निध्य से स्वत: प्राप्त प्रेरणा से ही। स्वामी निरञ्जनानन्द के सम्पर्क में आये भक्तों पर उनका दिव्य और चिरन्तन प्रभाव अनायास ही पड़ा और उनमें से कई ने कालान्तर में सब कुछ त्याग कर रामकृष्ण संघ में शरण भी ली और संन्यास का वरदान पाया। और स्वामी निरंजनानन्द की पावन जन्म तिथि पर सर्वोपरि हमें याद रखना है कि श्रीरामकृष्ण देव ने स्वयं ही नरेन्द्र, राखाल आदि के साथ इन्हें अपने अन्तरंगों में माना था।

अन्तिम दिनों में कुछ वर्ष स्वामी निरञ्जनानन्द आँत के रोगों से ग्रस्त रहे। ९ मई, १९०४ को स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि के कुछ ही महीनों बाद हरिद्वार में जहाँ आप तपस्या करने गये थे, भयंकर हैजे से आप ग्रस्त हो गये और वहीं आपने महाप्रयाण किया।

—(अद्वैत आश्रम, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित एवं स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा संकलित और सम्पादित अँग्रेजी ग्रन्थ "दि एपॉसल्स ऑव श्रीरामकृष्ण" पर आधारित)।

ठाकुर तुम्हारे रक्षक रहेंगे। तुम्हें उन पर निर्भर रहकर जीना चाहिए। अगर वे तुम्हारा कल्याण करना चाहें तो करें, या यदि वे तुम्हें डुबाना चाहें तो उनकी इच्छा पूरी होने दो। उन्होंने तुम्हें जो शक्ति प्रदान की है उसके अनुरूप तुम्हें सदैव उचित कार्य ही करना चाहिए।

—श्री श्री माँ सारदा देवी

श्रीरामकृष्ण तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर

—श्री 'म'

(१)

आज शनिवार है, श्रावण कृष्णा षष्ठी, ५ अगस्त, १८८२ ई० । दिन के चार बजे होंगे ।

श्रीरामकृष्ण किराये की गाड़ी पर कलकत्ते के रास्ते बादुड़बागान की तरफ आ रहे हैं । भवनाथ, हाजरा और मास्टर साथ में हैं । आप पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के घर जायेंगे ।

श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि जिला हुगली के अन्तर्गत कामारपुकुर गाँव है जो पण्डित विद्यासागर की जन्मभूमि वीरसिंह गाँव के पास है । श्रीरामकृष्णदेव बाल्यकाल से ही विद्यासागर की दया की चर्चा सुनते आये हैं । दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में प्रायः उनके पाण्डित्य और दया की बात सुना करते हैं । यह सुनकर कि मास्टर विद्यासागर के स्कूल में पढ़ाते हैं, आपने उनसे पूछा, "क्या मुझे विद्यासागर के पास ले चलोगे ? मुझे उन्हें देखने की बड़ी इच्छा होती है ।" मास्टर ने जब विद्यासागर से यह बात कही तो उन्होंने हर्ष के साथ किसी शनिवार को चार बजे उन्हें साथ लाने को कहा । केवल यही पूछा, "कैसे परमहंस हैं ? क्या वे गेरुए कपड़े पहनते हैं ?" मास्टर ने कहा, "जी नहीं, वे एक अद्भुत पुरुष हैं; लाल किनारेदार धोती पहनते हैं, कुरता पहनते हैं, पालिश किये हुए स्लीपर पहनते हैं, रानी रासमणि के काली मन्दिर की एक कोठरी में रहते हैं, जिसमें एक तख्त है और उसपर बिस्तर और मच्छरदानी, उसी बिस्तर पर लेटते हैं। कोई बाहरी भेष तो है नहीं, पर सिवाय ईश्वर के और कुछ नहीं जानते, अहर्निश उसी की चिन्ता किया करते हैं ।"

गाड़ी दक्षिणेश्वर काली-मन्दिर से चलकर श्यामबाजार होते हुए अब अमहर्स्ट स्ट्रीट में आयी है । भक्त लोग कह रहे हैं कि अब बादुड़बागान के पास आयी है । श्रीरामकृष्ण बालक की भाँति आनन्द से बातचीत करते हुए आ रहे हैं । अमहर्स्ट स्ट्रीट में आकर एकाएक उनका भावान्तर हुआ—मानों ईश्वरावेश होना चाहता है ।

गाड़ी स्वर्गीय राममोहन राय के बाग को बगल से आ रही है । मास्टर ने श्रीरामकृष्ण का भावान्तर नहीं देखा, झट कह दिया, "यह राममोहन राय का बाग है ।" श्रीरामकृष्ण नाराज हुए, कहा--"अब ये बातें अच्छी नहीं लगतीं ।" आप भावाविष्ट हो रहे हैं ।

विद्यासागर के मकान के सामने गाड़ी खड़ी हुई । मकान दुमंजिला है, साहबी ढंग से सजा हुआ है । श्रीरामकृष्णदेव गाड़ी से उतरे । मास्टर राह बताते हुए आपको मकान के भीतर ले जा रहे हैं । आँगन में फूलों के पेड़ हैं । इनके बीच में से जाते हुए श्रीरामकृष्ण बालक की तरह बटन को हाथ लगाकर मास्टर से पूछ रहे हैं, "कुरते के बटन खुले हुए हैं--इसमें कुछ हानि तो न होगी ।" बदन पर एक सूती कुरता है और लाल किनारे की धोती पहने हुए हैं, जिसका एक छोर कन्धे पर पड़ा हुआ है । पैरों में स्लीपर हैं । मास्टर ने कहा, "आप इस सबके लिए चिन्ता न कीजिए, आपकी कहीं त्रुटि न होगी । आपको बटन नहीं लगाना पड़ेगा ।" समझाने पर लड़का जैसे शान्त हो जाता है, आप भी वैसे शान्त हो गये । जीने से चढ़कर पहले कमरे में (जो उत्तर की तरफ था) श्रीरामकृष्ण भक्तों के साथ गये । कमरे में विद्या-

सागर बैठे हैं। सामने एक चौकोर लम्बी चिकनी मेज है। इसी के पास एक बेंच है। मेज के आस-पास कई कुर्सियाँ हैं। विद्यासागर दो-एक मित्रों से बातचीत कर रहे थे।

श्रीरामकृष्ण के प्रवेश करते ही विद्यासागर ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। श्रीरामकृष्ण मेज के पूर्व की ओर खड़े हैं—बायाँ हाथ मेज पर है; पीछे वह बेंच है। विद्यासागर को पूर्व परिचित की भाँति एकटक देखते हैं और भावावेश में हँसते हैं।

विद्यासागर की उम्र ६३ के लगभग होगी। श्रीरामकृष्ण से वे १६-१७ वर्ष बड़े होंगे। मोटी धोती पहने हुए हैं, पैरों में स्लीपर और बदन में आधी आस्तीन का फलालैन का कुरता। सिर का निचला हिस्सा चारो तरफ उड़िया लोगों की तरह मुँड़ा है। बोलने के समय उज्ज्वल दाँत नजर आते हैं—वे सबके-सब नकली हैं। सिर खूब बड़ा है, ललाट ऊँचा है और कद कुछ छोटा; ब्राह्मण हैं; इसीलिए गले में जनेऊ है।

विद्यासागर के गुणों का अन्त नहीं। विद्यानुरागी, सब जीवों पर दया, स्वाधीनप्रियता, मातृभक्ति तथा मानसिक बल आदि बहुत से गुण उनमें कूट-कूटकर भरे हुए हैं।

श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हो रहे हैं और थोड़ी देर के लिए उसी दशा में खड़े हैं। भाव सम्भालने के लिए बीच बीच में कहते हैं कि पानी पीऊँगा। इस बीच में घर के लड़के और आत्मीय बन्धु भी आकर खड़े हो गये।

श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट होकर बेंच पर बैठते हैं। एक १७-१८ वर्ष का लड़का उस पर बैठा है—विद्यासागर के पास सहायता माँगने आया है। श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हैं—ऋषि की अन्तर्दृष्टि लड़का के मनोभाव सब ताड़ गयी। आप कुछ सरककर बैठे और भावावेश में कहा, "माँ, इस लड़के की संसार में बड़ी आसक्ति है और तुम्हारे अविद्या के संसार पर यह अविद्या का लड़का है।"

जो ब्रह्मविद्या के लिए व्याकुल नहीं है, केवल अर्थकरी विद्या का उपार्जन करना उसके लिए व्यर्थ है—कदाचित आप यही कह रहे हैं।

विद्यासागर ने व्यग्र होकर किसी से पानी लाने को कहा और मास्टर से पूछा, "कुछ मिठाई लाऊँ, क्या ये खायेंगे?" मास्टर ने कहा, "जी हाँ, ले आइए।" विद्यासागर जल्दी भीतर से कुछ मिठाइयाँ लाये और कहा कि ये बर्दवान से आयी हैं। श्रीरामकृष्ण को कुछ खाने को दी गयी, हाजरा और भवनाथ ने भी कुछ पायी। जब मास्टर की पारी आयी तो विद्यासागर ने कहा, "वह तो घर ही का लड़का है, उसके लिए चिन्ता नहीं।" श्रीरामकृष्ण एक भक्त लड़के के बारे में विद्यासागर से कह रहे हैं, जो सामने ही बैठा था। आपने कहा, "यह लड़का बड़ा अच्छा है, और इसके भीतर सार है जैसे फल्गु नदी; ऊपर तो रेत है, पर थोड़ा खोदने से ही भीतर पानी बहता दिखायी देता है।"

मिठाई पा चुकने के बाद आप हंसते हुए विद्यासागर से बातचीत कर रहे हैं। घर दर्शकों से भर गया, कोई बैठा है, कोई खड़ा है।

श्रीरामकृष्ण—आज सागर से आ मिला। इतने दिन खाई, सोता और अधिक-से-अधिक हुआ तो नदी देखी, पर अब सागर देख रहा हूँ। (सब हँसते हैं।)

विद्यासागर—तो थोड़ा खारा पानी लेते जाइये। (हास्य)

श्रीरामकृष्ण—नहीं जी, खारा क्यों? तुम तो अविद्या के सागर नहीं, विद्या के सागर हो! (सब हँसे।) तुम क्षीरसमुद्र हो! (सब हँसे।)

विद्यासागर—आप जो चाहें कह सकते हैं।

विद्यासागर चुप रहे। श्रीरामकृष्ण फिर कहने लगे—

"तुम्हरा कर्म सात्विक कर्म है। यह सत्त्व का रजस् है। सत्त्वगुण से दया होती है। दया से जो कर्म किया जाता है, वह है तो राजसिक कर्म सही, पर यह रजोगुण सत् का रजोगुण है, इसमें दोष नहीं है। शुकदेव आदि ने लोकशिक्षा के लिए दया रख ली थी—ईश्वर के विषय में शिक्षा देने के लिए। तुम विद्यादान और अन्नदान कर रहे हो—यह भी अच्छा है। निष्काम रीति से कर सको तो इससे ईश्वर लाभ होगा। कोई करता है नाम के लिए कोई पुण्य के लिए—उनका कर्म निष्काम नहीं। फिर सिद्ध तो तुम हो ही।"

विद्यासागर—महाराज, यह कैसे ?

श्रीरामकृष्ण (सहास्य)—आलू-परवल सिद्ध होने से (पक आने से) नरम हो जाते हैं—सो तुम भी बहुत नरम हो। तुम्हारी ऐसी दशा ! (हास्य)

विद्यासागर (सहास्य)—पीसा उरद तो सिद्ध होने पर सख्त हो जाता है (सब हँसे)

श्रीरामकृष्ण—तुम वैसे क्यों होने लगे ? खाली पण्डित कैसे हैं—मानो एक पके फल का अंश जो अन्त तक कठिन ही रह जाता है। वे न इधर के हैं न उधर के। गीध खूब ऊँचा चढ़ता है, पर उसकी नजर बराबर लाश पर ही रहती है। जो खाली पण्डित हैं, वे सुनने के ही हैं, पर उनकी कामिनी-काञ्चन पर आसक्ति होती है—गीध की तरह वे सड़ी लाशें ढूंढ़ते हैं। असक्ति का घर अविद्या के संसार में है। दया, भक्ति, वैराग्य-ये विद्या के ऐश्वर्य हैं।

विद्यासागर चुपचाप सुन रहे हैं। सभी टकटकी बाँधे इस आनन्दमय पुरुष को देख रहे हैं, उनका वचनामृत पान कर रहे हैं।

(२)

विद्यासागर बड़े विद्वान हैं। जब संस्कृत कॉलेज में पढ़ते थे तब अपनी श्रेणी के सबसे अच्छे छात्र थे। हरएक परीक्षा में प्रथम होते और स्वर्णपदक आदि अथवा छात्र वृत्तियाँ पाते थे। होते-होते वे संस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष तक हुए थे।

विद्यासागर किसी को धर्मशिक्षा नहीं देते थे। वे दर्शनादि ग्रन्थ पढ़ चुके थे। मास्टर ने एक दिन उनसे पूछा, "आपको हिन्दू दर्शन कैसे लगते है ?" उन्होंने जवाब दिया," मुझे यही मालूम होता है कि वे जो चीज समझाने गये उसे समझा न सके।" वे हिन्दुओं की भाँति श्राद्धादि सब धर्मानुष्ठान करते थे, गले में जनेऊ धारण करते थे, अपनी भाषा में जो पत्र लिखते थे, उनमें सबसे पहले "श्री श्रीहरिः शरणम्" लिखते थे।

मास्टर ने और एक दिन ईश्वर के विषय में यह कहते सुना, "ईश्वर को कोई जान तो सकता नहीं। फिर करना क्या चाहिए ? मेरी समझ में हमलोगों को ऐसा होना चाहिए कि यदि सब कोई वैसे हो तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाय। हर एक को ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि जिससे जगत् को भला हो।"

विद्या और अविद्या की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण ब्रह्मज्ञान की बात उठा रहे हैं। विद्यासागर बड़े पण्डित हैं—षड्दर्शन पढ़कर उन्होंने देखा है कि ईश्वर के विषय में कुछ भी जानना संभव नहीं।

श्रीरामकृष्ण—ब्रह्म विद्या और अविद्या दोनों से परे है, वह मायातीत है।

"इस जगत् में विद्यामाया और अविद्यामाया दोनों हैं, ज्ञान-भक्ति भी है, और साथ ही कामिनी-काञ्चन भी है, सत् भी है और असत् भी, भला भी है और बुरा भी, परन्तु ब्रह्म निर्लिप्त है। भला-बुरा जीवों के लिए है, सत्-असत् जीवों के लिए है। यह ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकता।

"जैसे दीप के सामने कोई भागवत पढ़ रहा है और कोई जाल रच रहा है, पर दीप निर्लिप्त है।

"सूर्य शिष्ट पर भी प्रकाश डालता है ओक दुष्ट पर भी ! "यदि कहो कि दुःख, पाप, अशान्ति ये सब फिर क्या हैं—तो उसका जवाब यह है कि वे सब जीवों के लिए हैं, ब्रह्म निर्लिप्त है। साँप में विष है; औरों को डसने से वे मर जाते हैं, पर साँप को उससे कोई हानि नहीं होती। "ब्रह्म क्या हैं सो मुँह से नहीं कहा जा सकता। सभी चीजें जूठी हो गयी हैं; वेद, पुराण, तन्त्र, षड्दर्शन सब जूठे हो गये। पर केवल एक वस्तु जूठी नहीं हुई है—वह वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म क्या है यह आज तक कोई मुँह से नहीं कह सका।" विद्यासागर (मित्रों से) वाह ! यह तो बड़ी सुन्दर बात हुई ! आज मैंने एक नयी बात सीखी।

श्रीरामकृष्ण—एक पिता के दो लड़के थे। ब्रह्मविद्या सीखने के लिए पिता ने लड़कों को आचार्य को सौंपा। कई वर्ष बाद वे गुरुगृह से लौटे, आकर पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि देखें इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ। बड़े बेटे से उन्होंने पूछा, "बेटा, तुमने तब सब कुछ पढ़ा है, अब बताओ ब्रह्म कैसा है।" बड़ा लड़का वेदों से बहुत-से श्लोकों की आवृत्ति करते हुए ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा, पिता चुप रहे। जब उन्होंने छोटे लड़के से पूछा तो वह सिर झुकाये चुप रहा, मुँह से बात न निकली, तब पिता ने प्रसन्न होकर छोटे लड़के से कहा बेटा, तुम्हीं ने कुछ समझा है। ब्रह्म क्या है यह मुँह से नहीं कहा जा सकता।

श्री 'म' लिखित, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला द्वारा अनूदित तथा श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली (नागपुर) द्वारा प्रकाशित 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' प्रथम भाग से साभार।

बहन निवेदिता

—आचार्य डॉ० उमेशचन्द्र मधुकर

तुम गोरी कौन देवपुत्री स्वामी की अनुगामिनी बनी
कैसा था दिव्य चरित्र कि तुम सबकी भगिनी स्वामिनी बनी !
निज देश और परिवार छोड़ भारत में आयी क्या लेने
प्रभु से थी प्राप्त तुम्हें क्या निधि, आयी जन-जन को क्या देने !

तुम उच्च वंश की परम सुन्दरी युवती परम शिक्षिता थी
लक्ष्मी की तुम लाड़ली वहाँ ईसाई धर्म दीक्षिता थी।
क्या सोच समझ सब छोड़ छाड़ तुम सहसा संन्यासिनी बनी
वह कौन कृष्ण जिसके कारण तुम गोपी व्रजवासिनी बनी !

स्वामीजी के वेदान्ती रागों पर सर झूमा करते थे
वैज्ञानिक और महाभौतिक उनके पग चूमा करते थे।
पर कौन योगिनी गोपी तुम जिसने योगी को पकड़ लिया
जिसने योगी को सच्ची निष्ठा भक्ति पाश में जकड़ लिया !

स्वामी ने बहुत विचार किया, ली अतिशय कठिन परीक्षा भी
फिर भी आज्ञा पाने को तुमको करनी पड़ी प्रतीक्षा भी।
स्वामीजी के उपदेश तुम्हारी नस-नस में थे समा चुके
जगहित सेवा के भाव हृदय में अपनी जड़ थे जमा चुके।

जब प्रखर बुद्धि से, दिव्य दृष्टि से स्वामी ने सब कुछ जाना
तब द्रवित हो गए संत और तुमको अपनी भगिनी माना।
भगवान जगत में भक्तों से रखते अनेक रिश्ते-नाते
कुछ भी कह सच्चा हृदय पुकारे वे भागे दौड़े आते।

तुमको जब शरण मिली चरणों में धन्य हुआ पावन जीवन
वेदान्त और जगसेवा की धुन में ही मस्त हुए तन-मन।
वैराग्य लिये तब तुम आयी भारत में जप-तप करने को
जन-जन की सेवा का व्रत ले सेवा हित जीने-मरने को।

भगिनी निवेदिता तुम भारत में बसी भिक्षुणी ही होकर
साध्वी तपस्विनी बनी यहाँ पश्चिम की ठाट बाट खोकर।
अब धुन सवार हो गयी तुम्हें कैसे जग का कल्याण करें
स्वामी जी के उद्देश्यों को कैसे जीवंत प्रमाण करें।

राजर्षि विवेकानन्द चाहते थे जवान संन्यासी हों
जिनकी दिव्यता देखने को जन-जन की आँखें प्यासी हों।

शिक्षा सेवा के दीवाने वे संन्यासी जिस ओर बढ़ें
उस ओर उठें जयकार और उनके चरणों पर फूल चढ़ें।

बहुतेरे आश्रम खुलें जहाँ ये कर्मठ संन्यासी जाएँ
शिक्षा सेवा सत्संग जहाँ ये श्रद्धापूर्वक कर पाएँ।

सच्ची शिक्षा देने को खोले जायें बहुत शिक्षालय भी
सेवा को और चिकित्सा को स्थापित हों औषध आलय भी।

हों ज्ञान और विज्ञान-ग्रंथ ढेरों ऐसे ग्रंथालय भी
सत्संग ध्यान पूजन हों जिनमें ऐसे हों देवालय भी।

चिन्तित तुम भगिनी निवेदिता इसमें तो दान चाहिए ही
इतनी विस्तृत योजना चलाने को धनवान चाहिए ही।

फिर कहतीं धन का अतिशय संचय तो वे ही कर पाते हैं
जो पुण्य पाप कुछ भी करने में जरा नहीं सकुचाते हैं।

ऐसों के धन से बने आश्रमों से रखनी है क्या आशा
स्वामी के ध्येय महान् पूर्ण कर पायेगी क्या अभिलाषा!

आपस में तर्क-वितर्क हुए आखिर आगे क्या करना है
बिगड़ों को शीघ्र सँवरना है, भूलों को शीघ्र सुधरना है।

तय हुआ कि स्वामी का प्रभाव जिनपर कुछ भी पड़ पाया है
वे देश-बिदेश कहीं के हों यदि यह पथ उनको भाया है;

उनसे ऐसे पावन आश्रमहित दान लिया जा सकता है
इस महायज्ञ का श्री गणेश यों अभी किया जा सकता है।

बज उठे शंख, अब यात्रा की तैयारी
कर्मठ संन्यासी दल निकले व्रतधारी।

तब तुमने भी निज पूरी शक्ति लगायी
संदेश भेजने को लेखनी उठायी।

झोली लेकर घूमी भी भिक्षाटन को
प्रेरित करने को जन-जन के तन-मन को।

स्वामी का दिव्य प्रभाव चतुर्दिक था ही
भक्तों का प्रबल जमाव चतुर्दिक था ही।

कर्मठ संन्यासी दौड़ लगाते थे ही
जो प्यार लुटाते, आदर पाते थे ही।

बस देश-विदेश लगे पैसे बरसाने
आकृष्ट लगे होने जाने-अनजाने।

यों रामकृष्ण का मिशन रूप ले पाया
स्वामी जी का जयकार जगत ने गाया।

अब जहाँ-तहाँ खुलते अनेक आश्रम थे
जिनमें सेवा, शिक्षा, सत्संग नियम थे।

जोगन बन निवेदिता भारत आयी तुम
सेवा सुधार करने को अकुलायीं तुम।

इतनी जाग्रत उन्नत आत्मावाली तुम
इतनी प्रभुकृपा सुधा से प्रतिपाली तुम।

सोचा न कभी क्या होती भरी जवानी
वैभव विलास की तुमने की कुरबानी।

तुम बिगड़े काम सँभाल लिया करती थी
छूकर लोहे को स्वर्ण किया करती थी।

तुम गार्गी, मैत्रेयी थी या मीरा थी
तुम नारी-रत्नों में जगमग हीरा थीं।

भगिनी निवेदिता तुम को फिर हम पाएँ
आओ, पुकारतीं भारत की ललनाएँ।

———

श्री सारदा देवी

षष्ठ अध्याय

षोडशी पूजा

देखते-देखते ढाई महीने बीत गये। सारदादेवी प्राणपन से दिन-रात पतिदेव की सेवा करतीं तथा उनके उपदेशों के अनुसार साधन-भजन में अपना समय व्यतीत करतीं।

पत्नी के नित्य साथ रहने पर भी श्रीरामकृष्ण जैसे थे, वैसे ही रहे। पहले वे जिस प्रकार सभी नारियों में जगत्जननी काली को ही देखते थे, उसी प्रकार अब भी देखने लगे—मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी भवतारिणी ही सारदादेवी की देह धारण कर उनके साथ रह रही हैं। फिर कभी देखते—जैसे एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों में हैं, उसी प्रकार वे ही सारदादेवी में भी प्रकाशित हो रहे हैं। सारदादेवी में वे आत्मा को ही देखने लगे—उन्होंने रक्त-मांस से नारियों की रचना की है, यह भाव उनके मन में उठता ही नहीं था। उन्होंने समझ लिया कि उनकी साधना सिद्ध हो गयी है, उनका ज्ञान अब हिलने-डुलने वाला नहीं है। अब एक नयी पूजा कर उन्होंने नित्य जीवन के लिए साधन-भजन को समाप्त करना चाहा।

सन् १२८० साल (१८७३ ई०) का ज्येष्ठ मास, अमावस्या तिथि। इसी दिन फलहारिणी कालीपूजा होती है। इसी से दक्षिणेश्वर के मन्दिर में आज देवी की पूजा की विशेष व्यवस्था है। बाहर अमावस्या के घोर अन्धकार में सबकुछ ढँका हुआ है। दीपों की ज्योति से आलोकित मन्दिर का प्रांगण लोगों की कथा-वार्ता, भजन-कीर्तन से मुखरित है। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं आज देवी की विशेष पूजा का आयोजन किया है—लेकिन मन्दिर में नहीं, अपने घर में। मन्दिर के एक पुजारी ने फूल—बेलपत्र ला दिया है। उनका भगिना हृदय ने पूजा की अन्य वस्तुएँ इकट्ठी कर सारी चीजें सजाकर रख दीं और स्वयं काली मन्दिर में पूजा करने चले गये। यह सब करते-धरते रात के प्रायः ९ बज गये। सारदादेवी को अपने घर आने के लिए श्रीरामकृष्ण ने पहले ही खबर कर दी थी। इस समय (रात के ९ बजे) उनके आने पर श्रीरामकृष्ण ने घर का दरबाजा बन्द कर दिया।

श्रीरामकृष्ण पूजा करने बैठे। आचमन, आसनशुद्धि, पुष्पशुद्धि आदि पूजा के आरंभिक अनुष्ठान सब सम्पन्न करने में कुछ समय लगा। पूजा देखते-देखते सारदादेवी को बाहरी विषयों का होश कम होने लगा। श्रीरामकृष्ण बैठे थे पूर्वमुखी होकर, उनके सामने देवी के लिए एक पीढ़ा बिछा हुआ था जिस पर अल्पना की हुई थी। श्रीरामकृष्ण ने इशारा कर सारदादेवी को इस पीढ़े पर बैठने कहा। वे मंत्रमुग्ध की भाँति साथ-साथ इस पीढ़े पर जाकर पश्चिममुखी होकर बैठीं।

लोग प्रतिमा की जिस भाव से पूजा करते हैं, श्रीरामकृष्ण सारदा देवी की ठीक उसी भाव से षोडश उपचार से पूजा करने लगे। मंत्र पढ़कर पवित्र किया हुआ जल बार-बार उनके ऊपर छींटकर उनका अभिषेक किया। उनके शरीर में देवी के आविर्भाव के लिए इस प्रकार मंत्र पढ़कर प्रार्थना की—"हे बाले, हे समस्त शक्तियों की अधीश्वरी जननी त्रिपुरासुन्दरी, सिद्धि द्वार उन्मुक्त करो। इनके शरीर-मद को पवित्र कर इनमें आविर्भूत हो सर्वकल्याण-साधन करो।" इसके बाद जिस प्रकार पूजा करनी चाहिए, पूजा होने लगी। श्रीरामकृष्ण ने देवी के पाँव में आलता और माथे में सिंदूर लगा दिया, नवीन वस्त्र पहनाया, पाँव पर फूल

अर्पित कर पूजा की, मुँह में मिठाई डाली और पान खिलाया। सारदा देवी स्वभाव से से थीं अत्यन्त लजालु, किन्तु उस समय वे इतनी विभोर थीं कि उन्होंने सारी पूजाएँ ग्रहण कीं, किसी प्रकार का संकोच या आपत्ति नहीं प्रकट कीं। पूजा की समाप्ति पर वे गंभीर समाधि में डूब गयीं। श्रीरामकृष्ण की भी बाह्य-चेतना एकाएक समाप्त हो गयी।

इस भाव में काफी समय बीत गया। रात के तीसरे पहर में रामकृष्ण की चेतना कुछ लौटी। तब वे अपने साधन-काल में जिन सब वस्तुओं का व्यवहार करते आये हैं, वे सब चीजें—अपनी जप-माला आदि—देवी के पाँवों पर समर्पित कर दीं। और इसके साथ ही देवी के चरणों पर उत्सर्ग कर दिया अपनी साधना के समस्त फलों के संग अपने को भी। पूजा की समाप्ति पर साष्टांग होकर देवी को प्रणाम किया—

सर्वमंगलमंगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्रयम्बके गौरि नारायणि नमोः स्तुते॥

श्रीरामकृष्ण की सारी पूजाओं की, सारी साधनाओं की आज समाप्ति हुई।

पूजा के समाप्त होने पर सारदादेवीं की भी समाधि टूटी। मन ही मन श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर वे नहवत चली गयीं। इसी पूजा को षोडशी पूजा या राजराजेश्वरी पूजा कहते हैं। इस पूजा में एक नवयुवती स्त्री की देवी-भाव से पूजा करनी होती है। युवती की उम्र ठींक सोलह वर्ष की हो ही, ऐसी बात नहीं है। इस पूजा के समय श्रीसारदा देवी की उम्र अट्ठारह वर्ष से कुछ अधिक हो गयी थी।

सप्तम अध्याय

शिक्षा और साधना

कई वर्ष पूर्व श्रीरामकृष्ण जब कामारपुकुर जाते थे तब वे सारदा देवी को शिक्षा देना आरम्भ करते। किन्तु तब वे वय की दृष्टि से छोटी बालिका थीं—सब कुछ जानने-समझने की सामर्थ्य उन्हें तब भी नहीं हुई थी। और श्रीरामकृष्ण भी खूब अधिक दिनों तक कामारपुकुर में रहकर अपना यह कार्य समाप्त नहीं कर पाते थे। अब सारदा देवी के दक्षिणेश्वर आने पर उन्होंने अपने अधूरे कार्य को समाप्त करने की बात सोची।

सांसारिक ज्ञान की अनेक बातें सारदा देवी ने कामारपुकुर में सीखी थीं। किन्तु दक्षिणेश्वर में और भी अनेक कुछ बातों को जानने की आवश्यकता थी। नयी जगह—उम्र बढ़ी है—विभिन्न स्वभाव वाले अनेक अनजान व्यक्तियों के साथ मिलना-जुलना होता है। अतः श्रीरामकृष्ण ने भी उन्हें आवश्यकता के अनुसार शिक्षा देनी शुरू की। इस सम्बन्ध में सारदा देवी ने कहा है,—'दक्षिणेश्वर आयी। तब से आरम्भ हुआ नौका और गाड़ी से आना-जाना। इसीसे उन्होंने कहा था,—"नाव और गाड़ी पर सबके पहले चढ़ना, देख लेना सारा सामान चढ़ा कि नहीं। उतरने के समय लेकिन, सबके पीछे उतरना। देखकर उतरना, ताकि नाव अथवा गाड़ी में कोई सामान रह न जाय।"

"इस समय से अनेक प्रकार की महिला भक्तों के साथ कथा-वार्ता होती थी। यह देखकर उन्होंने एक दिन कहा था,—'जब जैसा तब तैसा, जहाँ जैसा वहाँ वैसा, जिसको जैसा उसको वैसा—जानकर चलने से ही होगा।' फिर कहा था,—'हाड़-मांस का ढाँचा, बाहर से देखने से सभी मनुष्य एक समान दिखायी पड़ते हैं। किन्तु, मन तो सबका एक समान नहीं होता है!' इसीसे उन्होंने मुझसे कहा था कि लक्ष्मी, कन्या योगेन, गोलाप, गोपाल की माँ, बलराम बाबू की पत्नी, बाबूराम की माँ—ये सब जो हैं वे अपने लोग हैं, इन सब के साथ सब समय मिलना-जुलना। किस-किस स्त्री से कम से कम बात करनी है, यह सिखा दिया था। फिर किसी के साथ बात करने से मनाही भी करते।·····"

"जिससे अच्छी रहूँगी, वही करते थे। वे कहते थे, 'कर्म करना है। स्त्रियों के समीप बैठना नहीं है। बैठने से अनेक प्रकार की बातों से चिन्ता, कुचिन्ता सब आती हैं।' एक दिन काफी पाट लाकर मुझे दिया और कहा, 'इसे लेकर मुझे एक सींका बना दो, बच्चों के लिए सन्देश रखूँगा, कचौड़ी रखूँगा।'

मैंने सींका बना दिया, और कपड़ा फाड़कर उसमें पाट का रेशा देकर एक तकिया बना लिया। बोरों के ऊपर मोथे (एक प्रकार की मोटी घास) की चटाई बिछाती और उसी रेशे के तकिये पर सिर रखकर सोती। तब उस पर सोने से जैसी अच्छी नींद होती, अब भी इन (पलंग, बिछावन आदि) पर सोने से वैसी ही नींद आती है—किसी प्रकार का अन्तर नहीं प्रतीत होता, माँ।"

संसार में जिस भाव से चलने पर मनुष्य स्वयं सुखी होता है और दूसरे को भी सुखी कर पाता है, उस प्रकार की कितनी सारी शिक्षाएँ श्रीरामकृष्ण ने सारदा देवी को दीं। विश्व के कल्याण के लिए भविष्य में उन्हें सैकड़ों आदमियों के संसर्ग में आना होगा। इसी से साधन-भजन, भगवान-लाभ के उपाय आदि की शिक्षा के साथ-साथ इन सब शिक्षाओं का प्रयोजन भी उनके लिए कम नहीं था।

साधन-भजन के सम्बन्ध में अनेक तरह की शिक्षाएँ सारदा देवी ने श्रीरामकृष्ण के समीप रहकर पायी थीं। श्रीरामकृष्ण थे उत्तम गुरु। केवल उपदेश देकर ही वे संतुष्ट नहीं होते थे—शिष्य उपदेशानुसार कार्य कर रहा है कि नहीं यह भी वे देख लेते थे।

प्रेम से ही मनुष्य अपना होता है। जो प्रेम करता है उसका उपदेश सुनने पर उसकी बातों के अनुसार चलने की स्वयं ही इच्छा होती है। पतिदेव के प्रेम का परिचय सारदा देवी ने कामारपुकुर में ही यथेष्ट रूप से पा लिया था। अब फिर रुग्ण शरीर से दक्षिणेश्वर आकार जिस स्नेह-प्रीति का निदर्शन उन्होंने पाया उससे उनका मन पतिदेव के प्रति—श्रद्धा-भक्ति से पूर्ण हो गया। हर प्रकार से स्वामी के आदेश का पालन करती हुई, उनके उपदेश के अनुसार अपनेजीवन को गढ़ने के लिए वे प्रस्तुत हुईं।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा,—'चन्दा मामा जिस प्रकार सभी बच्चों के मामा हैं, उसी प्रकार ईश्वर सबके अपने हैं; उन्हें पुकारने का अधिकार सबको है। जो उन्हें पुकारेगा उसे ही वे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। तुम पुकारो तो तुम्हें भी दर्शन होगा।' इस प्रकार सारी शिक्षा देकर श्रीरामकृष्ण उनको अपने जीवन की विशेषताएँ—त्याग-वैराग्य, ईश्वर में प्रेम आदि गुण—जिससे सारदा देवी के जीवन में भी प्रस्फुटित हो सकें, ऐसी चेष्टा सर्वदा करने लगे।

सारदा देवी का मन था अति निर्मल। कामना-वासना का लेशमात्र उनमें नहीं था। इसीसे श्रीरामकृष्ण का उपदेश जैसा उन्होंने सुना उसे उसी प्रकार वे साथ-साथ अपने जीवन में उतारने लगीं। दक्षिणेश्वर में साधन-भजन के बीच उनके दिन किस प्रकार सुन्दर रीति से कटते थे वह बात अभी हमलोग उनके अपने ही मुँह से सुनें,—'दक्षिणेश्वर में रात के तीन बजे जप करती।* कोई होश नहीं रहता था। एक दिन चाँदनी रात में नहवत की सीढ़ी के निकट बैठकर जप करती हूँ, चारों ओर निस्तब्ध। उस दिन ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) कब झाउतला में शौच को गये हैं, कुछ जान नहीं पायी—अन्य दिन जूतों की आवाज से पता चल जाता था। खूब ध्यान जम गया है। (उन दिनों मेरा चेहरा दूसरी ही तरह का था—गहने पहनती, लाल किनारे की साड़ी) शरीर से आँचल गिरकर हवा में उड़-उड़ जाता है, कोई होश नहीं। बालक योगेन (स्वामी योगानन्द) ने उस दिन ठाकुर को शौच के लिए जल-पात्र (गरुआ) देकर आते हुए मुझे उस अवस्था में देखा था। वे सब दिन क्या चले गये माँ! चाँदनी रात में चाँद की ओर देखकर हाथ जोड़ कर कहती हूँ, अपनी इस चन्द्रिका की भाँति मेरा अन्तर निर्मल कर दो। 'जब नहबत में रहती थी, रात में जब चन्द्रमा उगता था, गंगा के स्थिर जल पर चन्द्रमा को देखकर भगवान के समीप रो-रोकर प्रार्थना करती, चन्द्रमा में भी कलंक है, मेरे मन में जैसे कोई दाग न रहे:' 'जप-ध्यान करते-करते देखोगी, वे (ईश्वर) बातें करेंगे, मन में जब जो इच्छा उठेगी उसी समय उसे पूरी

*सारदा देवी नहवत घर में नीचे की कोठरी में रहती थीं तथा वे पश्चिमी बरामदा की सीढ़ी के निकट गंगा की ओर दक्षिण दिशा में मुँह किये बैठ कर ध्यान करती थीं।

कर देंगे—प्राणों में कैसी शान्ति आयेगी ! आहा, तब कैसा मेरा मन था ! ... ... साधना करते-करते देखोगी, जो मेरे भीतर हैं, तुम्हारे भीतर भी वही हैं, (निम्न जाति) डोम के भीतर भी वही हैं—तब ही तो मन में दीन-भाव आयेगा ।'

केवल ध्यान करके नहीं बैठती थीं । श्रीरामकृष्ण के मुख से बातें सुनते-सुनते वे एक-एक दिन ऐसी तन्मय हो जातीं कि उन्हें अपने शरीर या समय का ज्ञान नहीं रहता । एक दिन रात को सारदा देवी एक भक्त महिला के साथ रामकृष्ण के घर में खाना देने आयी हैं । उनका मुख घूँघट से ढँका है । वे थीं अतिशय लज्जाशीला । श्रीरामकृष्ण के सामने भी वे घूँघट किये रहती थीं । भोजन के उपरान्त श्रीरामकृष्ण ईश्वर और साधन-भजन का प्रसंग आरम्भ कर एकाएक उन्मत्त हो उठे । घण्टे पर घण्टा अविच्छेद भाव से बीत रहा है—समय का कोई ज्ञान नहीं । सारदा देवी खड़ी-खड़ी सुन रही थीं । श्रीरामकृष्ण के उपदेश रूपी अमृत का पान कर वे ऐसी विभोर हो गयीं कि भोजन, विश्राम-निद्रा आदि का कोई ध्यान उनके मन में आया ही नहीं—माथे से कब घूँघट एकाएक गिर गया है, इसका खयाल भी नहीं । रात जब शेष होने-होने को आयी, उषा का अरुणराग पूर्व के आकाश को रंग कर घर के भीतर झाँकने लगा है, तब उनकी बाह्य चेतना वापस आयी । वे घूँघट खींचकर झटपट नहवत के घर को चली गयीं ।

श्रीरामकृष्ण के शिक्षा देने का ढंग ही था एक नये प्रकार का । उसका एक और दृष्टान्त । एक दिन नरेन्द्र नाथ (स्वामी विवेकानन्द) दक्षिणेश्वर आये हैं । उनके मुँह का गीत श्रीरामकृष्ण को अत्यंत प्रिय था—सुनते ही प्राय: भगवान के भाव में डूब जाते । उस दिन नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण के सामने बैठकर तानपूरा लेकर गाने लगे—

नाथ ! तुम मम सर्वस्व (अपार) ।
प्राणाधार सारात्सार,
तुम बिन कोउ नहीं त्रिभुवन में
अपना बोलनहार ।

तुम इहकाल तुम परित्राण,
तुम परकाल तुम स्वर्गधाम
तुम शास्त्रविधि तुम कल्पतरु
अनन्त सुख—आधार ।
तुम्हीं हे उपाय, तुम्हीं हे उद्देश्य
तुम स्रष्टा-पालक तुम हे उपास्य
दंडदाता पिता स्नेहमयी माता
भवसागर—कर्णधार ।

गान आरम्भ होने के साथ-साथ श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये । सारदा देवी भी भावाविष्ट हो गयीं । गीत रुका, किन्तु सुर की लहर से कालीवाड़ी विभोर हो उठी । समय समाप्त होने पर सब इधर-उधर चलने लगते हैं : श्रीरामकृष्ण ने नहवत की ओर आकर सारदा देवी को पुकार कर कहा, "नरेन्द्र ने जो गाया था—'नाथ ! तुम मम सर्वस्व अपार' इस गीत के ऊपर तुम कई दिनों तक ध्यान करना ।"

सारदा देवी ने कितनी तरह के साधन-भजन सीखे थे वे सब नहीं जाने जा सकते । अपनी बात वे बहुत कम कहती थीं । योगाभ्यास करते जो सीखा था, वही ठीक है । एक दिन बातों के क्रम में उन्होंने कहा था कि श्रीरामकृष्ण ने उनके लिए कुंडलिनी और षट्चक्रों के चित्र बना दिये थे । भजन, कीर्तन, स्तुति आदि भी उन्होंने प्रचुर रूप में श्रीरामकृष्ण के निकट सीखी थी । श्रीरामकृष्ण का जब तक शरीर था उस समय के बीच वे जयरामबाटी या कामारपुकुर से सात बार आकर दक्षिणेश्वर में ठहरी थीं । इन सभी कालों में उन्होंने कुछ-न-कुछ शिक्षा-लाभ किया था ।

साधन-भजन के फल से मनुष्य का क्या होता है, इस विषय में सारदा देवी ने जो कहा है, वह बात मन में रखने योग्य है—"भगवान-लाभ होने से और क्या होता है ? क्या दो सींगें निकल आती हैं ? नहीं, सद्सत् का विचार आता है, ज्ञान-चैतन्य होता है, जन्म-मृत्यु से तरा जाता है ।"

साधन भजन का फल उनके जीवन में किस प्रकार प्रकट हुआ था, यह हमलोग बाद में उनके सम्पूर्ण जीवन के आचरणों का विवेचन करने पर, देखेंगे ।

(क्रमशः)

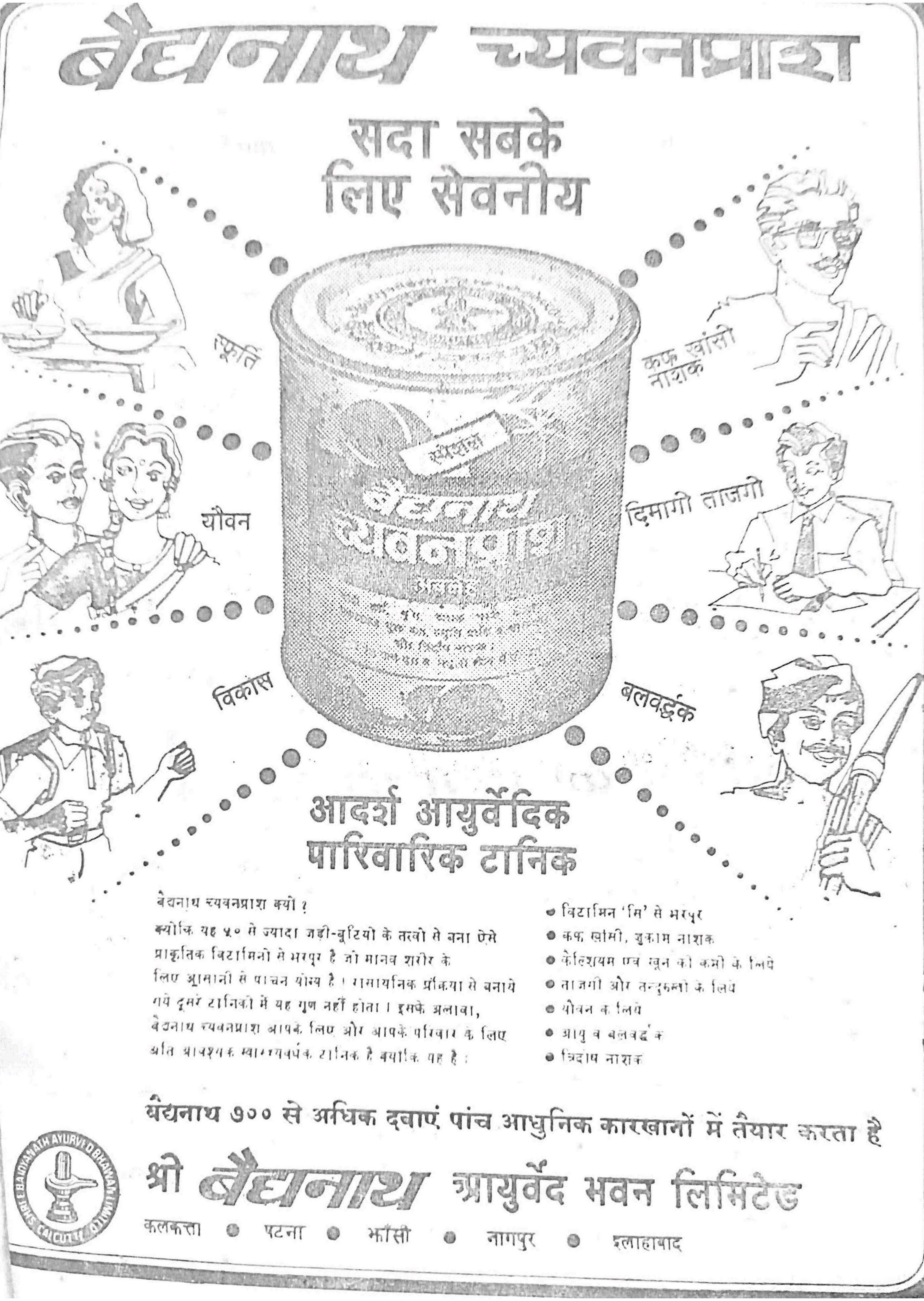
बैद्यनाथ च्यवनप्राश
सदा सबके लिए सेवनीय
स्फूर्ति
कफ खांसी नाशक
यौवन
दिमागी ताजगी
विकास
बलवर्द्धक
आदर्श आयुर्वेदिक पारिवारिक टानिक
बैद्यनाथ च्यवनप्राश क्यों ?
क्योंकि यह ५० से ज्यादा जड़ी-बूटियों के तत्वों से बना ऐसे प्राकृतिक विटामिनों से भरपूर है जो मानव शरीर के लिए आसानी से पाचन योग्य है। रासायनिक प्रक्रिया से बनाये गये दूसरे टानिकों में यह गुण नहीं होता। इसके अलावा, बैद्यनाथ च्यवनप्राश आपके लिए और आपके परिवार के लिए अति आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक टानिक है क्योंकि यह है :
• विटामिन 'सि' से भरपूर
• कफ खांसी, जुकाम नाशक
• कैल्शियम एवं खून की कमी के लिये
• ताजगी और तन्दुरुस्ती के लिये
• यौवन के लिये
• आयु व बलवर्द्धक
• त्रिदोष नाशक
बैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार करता है
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर • इलाहाबाद

विवेक वाणी

कर्म-रहस्य

जो कुछ भी तुम करो, उसके लिए किसी प्रकार की प्रशंसा अथवा पुरस्कार की आशा मत रखो। ज्यों ही हम कोई सत्-कार्य करते हैं, त्यों ही हम उसके लिए प्रशंसा की आशा करने लगते हैं। ज्यों ही हम किसी सत्-कार्य में चन्दा देते हैं, त्यों ही हम चाहते हैं कि हमारा नाम अखबारों में खूब चमक उठे। ऐसी वासनाओं का फल दुःख के अतिरिक्त और क्या होगा? संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष अज्ञात ही चले गये। जिन बुद्धों तथा ईसा मसीहों को हम जानते हैं, वे उन महापुरुषों की तुलना में द्वितीय श्रेणी के हैं, जिनके बारे में संसार कुछ जानता तक नहीं। प्रत्येक देश में चुपचाप कार्य करते रहने वाले सैकड़ों महापुरुष हुए हैं। चुपचाप वे अपना जीवन व्यतीत करते हैं और चुपचाप इस संसार से चले जाते हैं; समय पाकर उनके विचार बुद्धों और ईसा मसीहों में व्यक्त होते हैं और हम केवल उन्हीं बुद्धों और ईसा मसीहों को जान पाते हैं।

महापुरुष

सर्वश्रेष्ठ महापुरुष शान्त, अमुखर और अज्ञात होते हैं। वे वह व्यक्ति हैं, जिन्हें विचार की शक्ति का सच्चा ज्ञान रहता है। उनमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि यदि वे किसी पर्वत की गुफा में जाकर उसके द्वार बन्द करके केवल पांच सत्य विचारों का ही मनन कर इस संसार से चल बसें, तो उनके यह पांच विचार ही अनन्त काल तक जीवित रहेंगे। वास्तव में ऐसे विचार पर्वतों को भी भेद कर पार हो जायेंगे, समुद्रों को लाँघ जायेंगे और सारे संसार में व्याप्त हो जायेंगे। वे मानव हृदय एवं मस्तिस्क में गहरे घुसकर ऐसे नर-नारी उत्पन्न करेंगे, जो उन्हें मनुष्य के जीवन में कार्य रूप में परिणत करेंगे।

कर्मयोग का चरम आदर्श

केवल वही व्यक्ति सबकी अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है, जो पूर्णतया निःस्वार्थी है, जिसे न तो धन की लालसा है, न कीर्त्ति की और न किसी अन्य वस्तु की ही। और मनुष्य जब ऐसा करने में समर्थ हो जायगा, तो वह भी एक बुद्ध बन जायगा, और उसके भीतर से ऐसी शक्ति प्रकट होगी, जो संसार की अवस्था को सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित कर सकती है। वह व्यक्ति कर्मयोग के चरम आदर्श का प्रतीक है।

[विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : (अद्वैत आश्रम, ५ डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता) से साभार उद्धृत।]

श्रीमती गंगा देवी द्वारा रामकृष्ण निलयम् जयप्रकाश नगर, छपरा से प्रकाशित एवं श्रीकान्त लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना—४ में मुद्रित।

सम्पादक—डॉ० केदारनाथ लाभ।